योगामृत

मुनि बालचन्द्र कृत

भाग–2

• संपादक •

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

प्रस्तुतिः निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

संस्करण : प्रथम – 1500 प्रतियाँ, सन् 2003
I.S.B.N. No. : 81-878280-85
@ सर्वाधिकार सुरक्षित : प्रकाशकाधीन

योगामृत (भाग–2)

मुनि बालचन्द्र कृत

पावन आशीष: परम पूज्य राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज
सम्पादक: उपाध्याय मुनि निर्णय सागर
सहयोगी: ऐलक श्री 105 विमुक्त सागर जी
क्षुल्लक श्री 105 विशंक सागर जी
क्षुल्लक श्री 105 नित्यानंद जी
प्रकाशक: निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला
e-mail : nirgranthmala@rediffmail.com
मूल्य : स्वाध्याय (लागत मूल्य 30.00)
ग्रंथ प्राप्ति स्थान :
1. चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ.प्र.)
2. श्री दि० जैन ऋषभदेव मंदिर,
ऋषभपुरी, टूण्डला चौराहा, टूण्डला जिला फिरोजाबाद (उ.प्र.)
मुद्रक :
अनिल कुमार जैन
चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ.प्र.) फोन: 2360195, 2260938
e-mail : chandraagra@yahoo.com

प्राक्कथन

इस अनादि–निधन संसार के सम्पूर्ण अनन्तानन्त जीव केवल दो ही मार्गों के पथिक हैं यद्यपि मार्ग एक ही है, फिर भी मंजिल दो हैं। एक पूर्व की ओर जाने वाले मार्ग में तो दूसरी पश्चिम की ओर जाने वाले मार्ग के अन्त में।

जो पूर्व की ओर मंजिल है उसका नाम है। संसार। उस मंजिल में पहुंचने की भेद व प्रभेद की अपेक्षा अनन्तानन्त भेद हैं। वह मार्ग प्रत्येक प्राणी का परिचित, श्रुत, गम्य एवं अनुभूत मार्ग है। जिस पर हम सभी संसारी जीव अनादि काल से भव पथिक बन कर परिभ्रमण कर रहे हैं। इसमें राग–द्वेष रूपी पैरों से आसव व कर्म रूपी पटरियों पर गमन किया जाता है।

दूसरा मार्ग जो अपूर्व/पश्चिम दिशा की ओर जाने वाला मार्ग/मोक्ष मार्ग है, वह अनश्रुत, अदृष्ट, अगम्य, अपरिचित व अननुभूत मार्ग है। इस मार्ग में आसन्न भव्य ही वैराग्य व संयम या ज्ञान–ध्यान रूपी पैरों से गमन करते है, यह मार्ग संवर व निर्जरा पर भी आधारित है। किन्तु आज तक इस मार्ग की ओर मिथ्यात्व के कारण पीठ किये रहे, तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान व असंयम के कारण संसार मार्ग के कारणों में संलग्न रहे।

मिथ्या दर्शन व अज्ञान के कारण–यह संसारी जीव पंचेंद्रिय के विषयों को ही सच्चा सुख मान बैठा है, किन्तु इन्द्रिय सुख कभी सच्चा सुख नहीं हो सकता। क्योंकि सच्चा सुख वही हो सकता है, "जो शाश्वत हो, स्वाधीन हो, आत्मोत्पन्न हो, बाधा रहित एवं अखण्ड हो।" किन्तु इन्द्रिय सम्बन्धी सुख न तो शाश्वत ही है, और न ही आत्मोत्पन्न। वह तो क्षणिक सुखाभास है, तथा पापासव का कारण है। दुखों का बीज है, बाधा सहित है, पराधीन है एवं इन्द्रिय सम्बन्धी पदार्थों से उत्पन्न है। जिन पदार्थों से आज सुखाभास की अनुभूति हो रही है, वही पदार्थ कल दुख के हेतु भी हो सकते हैं। यथा–पंखा, कूलर, शीतल पेय पदार्थ आदि वस्तुऐं ग्रीष्म काल में सुख के कारण प्रतिभासित होते है, परन्तु वे ही पंखा, कूलर व शीतल पेय आदि पदार्थ शीत काल में अत्यन्त दुखदायी होते हैं। इसी प्रकार ऊष्ण भोज्य पदार्थ व उष्णता के साधन शीतकाल में सुख के कारण प्रतिभासित होते हैं, किन्तु ग्रीष्म काल के वे ही उष्ण पदार्थ व उष्णता के साधन दुख के कारण प्रतीत होते हैं। पंचेन्द्रिय विषय सम्बन्धी पदार्थों को भोगते समय मिथ्यादृष्टि मानता है कि मैं इन्हें भोग रहा हूँ, किन्तु सम्यग्दृष्टि मानता है कि ये मुझे व मेरे धर्म को भोग रहे हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में, क्रोधादि कषायों में एवं हिंसादि पापों में ही संलग्न रहते हैं। तथा सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि, ज्ञान वैराग्य, संयम, तप त्याग एवं ध्यान साधना में संलग्न रहता है। जिसके फल स्वरूप मिथ्यादृष्टि जीव नरक, तिर्यंचादि दुर्गतियों में नाना दुख के भोक्ता होते हैं, तथा सम्यक दृष्टि जीव स्वर्गादि के वैभव, मनुष्य गति

भ चक्रवर्ती की सम्पत्ति के भोक्ता होकर, तीर्थंकर या सामान्य केवली बनते हैं। तदनन्तर अशेष कर्मों को नष्ट कर परम सिद्ध पद को प्राप्त कर अनन्त काल के लिए अनन्त सुखों के भोक्ता बन जाते हैं।

जैन धर्म व श्रमण संस्कृति आत्म कल्याण कारक व परकल्याण की पावन प्रेरणा दात्री मां के समान है। ये वीतरागता की पोषक, त्याग प्रधान, अहिंसा युक्त आचरण की रीढ़ से सहित, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह के चार सुदृढ़ स्तम्भों पर आधारित है। अनेकान्तात्मक धर्म व स्याद्वाद रूपी कथन पद्धति से समाविष्ट है।

श्रमण संस्कृति में भौतिक सुखों का पूर्णतः त्याग करके ही परमार्थिक सुखों का अन्वेषण किया जाता है। संसार, शरीर व भोगों से पूर्ण विरक्त योगी ही आध्यात्म साधना व आत्म कल्याण में समर्थ हो सकते हैं। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवार नहीं रख सकते, एक मानव शरीर में दो मनुष्य नहीं रह सकते, छद्मस्थ जीव के ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग दोनों उपयोग एक साथ नहीं हो सकते, उसी प्रकार भौतिक सुखों में आसक्त जीव पारमार्थिक सुखों को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस प्रकार गधे को कितना भी नहलाओ वह घोड़ा नहीं हो सकता, कोयला को कितना भी साबुन लगाकर धोओ वह स्वर्ण नहीं हो सकता न ही धवल हो सकता है, कौआ को कितनी भी शक्कर खिलाओ वह मधुर नहीं हो सकता, गिद्ध पक्षी मयूर पंख लगाकर गरूड़ नहीं हो सकता, बगुला मान सरोवर में पहुंच कर भी हंस नहीं हो सकता, भेड़ का बच्चा गाय का दूध पीकर कामधेनु नहीं हो सकता, चूहा शेरनी का दूध पीकर शेर नहीं हो जाता, उसी प्रकार तत्त्वार्थों की श्रद्धा से रहित गृहस्थ समयसार पढ़कर भी कुन्द-कुन्द नहीं हो जाता और न ही भौतिक सुखों में आसक्त सन्त पारमार्थिक सुखों का भोक्ता हो सकता है। भौतिक सुख तो शहद से लिपटी तलवार को चाटने के समान भयंकर भव दुखों के ही जनक हैं।

पारमार्थिक सुखों का अन्वेषण निजात्मा का समीचीन स्वरूप जाने बिना दुर्लभ ही नहीं असंभव है। आत्मा का समग्र स्वरूप, सर्व गुण, लक्षण, स्वरूप व उनकी पर्यायों का ज्ञान व श्रद्धान किये बिना आध्यात्मिकता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिसने अपनी एक निजात्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया, किन्तु जिसने अपनी निजात्मा को नहीं जाना उसने सब कुछ जान कर भी कुछ नहीं जाना।

सुख और दुख बाहर से प्राप्त होने वाले पदार्थ नहीं हैं, यह तो चेतना का ही स्वभाव व विभाव पर्याय/परिणति का फल है, मोहनीय कर्म का जब तक सत्व रहेगा तब तक अनन्त सुख को नहीं पा सकते, तथा मोहनीय कर्म के क्षय होते ही यह जीव तत्क्षण में अनन्त सुखी बन जाता है। मोहनीय कर्म का क्षय बिना रत्नत्रय की साधना के असंभव है। रत्नत्रय व्यवहार नय से मोक्ष का मार्ग है निश्चल नय रत्नत्रय से युक्त आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। निश्चय मोक्ष का मार्ग की प्राप्ति व्यवहार मोक्ष मार्ग के बिना असंभव है। श्रमण अवस्था में ही निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति संभव है, अभेद रत्नत्रय की साधना, निर्विकल्प ध्यान, परम समाधि एवं शुद्धोपयोग

की दशा ही निश्चय शिव पथ है। सच्चा श्रमण वही है जो विषय–कषाय, आरंभ, परिग्रह एवं सर्व सावद्य क्रियाओं से रहित हो, ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहे 28 मूल गुण व 34 उत्तर गुण 84 लाख उत्तरोत्तर गुणों का पालक हो। निश्चय से आत्म रूचि करने वाला, निजात्मा को जानने वाला व निज स्वरूप में रमण करने वाला हो।

प्रस्तुत ग्रंथ यथा नाम तथा गुण धारक है, इस "योगामृत" ग्रंथ में तीनों योगों की विषयानुरागी प्रवृत्ति रूपी विष को धर्मानुराग, व आत्म रूपी अमृत में बदलने की कला बताई है। यह ग्रंथ अध्यात्म विद्या का एक महान ग्रंथ है। परम पूज्य मुनि बाल चन्द्र जी ने इसे कन्नड़ भाषा में रचा है। इसके 99 श्लोक ही उपलब्ध हो सके हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ अपूर्ण है।

अन्तिम छन्द ग्रन्थकार की प्रशस्ति व मंगलाचरण परक भी नहीं है। यद्यपि अनेक दिगम्बर संतों व जैनाचार्यों ने ग्रंथ रचना करके अपना नाम कहीं भी नहीं लिखा वे परम वीतरागी हुए। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि जैन दर्शन के साहित्य की अन्य धर्मानुयायी व मतावलम्बियों ने उन साहित्य में कुछ फेर–बदल कर अपना नाम लिख लिया। वस्तुतः जैन साहित्य की बहुत चोरी हुई।

यद्यपि यह भी नहीं जा सकता कि यह प. पू. निज शुद्धात्म सुखामृत भोगी, मुनिराज श्री बाल चन्द्र जी ही ग्रंथ को अपूर्ण लिख पाये हों, या उसका शेष हिस्सा हमें प्राप्त नहीं हुआ हो उन्होंने पूर्ण ही लिखा हो। इस सम्बन्ध में वर्तमान में कोई विशेष साक्ष्य/प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि यह कृति दिगम्बर जैन संत मुनि श्री बाल चन्द्र जी की आत्मानुभुति के अन्तोनुभूति के अन्तोदधि या हृदय गंगोत्री से उद्गमित भागीरथी के समान समुज्ज्वल व विश्व कल्याणी है। जो कि भव्य जीवों के पाप पंक का प्रक्षालन करने में पूर्ण समर्थ एवं अलौकिक वरदान स्वरूप है।

ग्रंथ कर्ता पूज्य मुनि श्री बाल चन्द्र जी का यथार्थ एवं विस्तृत परिचय भी अनुपलब्ध है। उन्होंने जन्म लेकर किन माता–पिता को धन्य किया? व किस नगर व प्रांत की वसुन्धरा को अपनी पद रज से पावन किया? किस कुल, जाति व गोत्र को समुज्ज्वल किया? एवं किन गुरु से शिक्षा व दीक्षा लेकर उनके नाम की कीर्ति को दशों दिशाओं में विस्तारित/प्रकाशित किया? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर अभी वर्तमान में अनुपलब्ध हैं जो कि अन्वेषणीय भी हैं?

भारतीय वाङ्मय, जैन दर्शन व उसे की श्रमण संस्कृति का सदा ऋणी रहेगा। जिसने कि जैन दर्शन के माध्यम से विश्व कल्याणी अहिंसा जैसी निधि, आध्यात्मिकता जैसी सर्वोत्कृष्ट मणि, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद व अपरिग्रह जैसे सिद्धांत रूपी रत्न तथा वीतरागता जैसी अपूर्व भगवन्ता या सर्व सत्ता प्राप्त करने का मार्ग विश्व के सामने प्रतिपादित किया है। पूज्य मुनि बाल चन्द्र की बौद्धिक क्षमता भी अपूर्व ही रही होगी जो कि उन्होंने प्रौढ़ कानड़ी लिपि में संस्कृत भाषा के सदाशय व भावार्थों को अपनी रचना में गाम्भीर व औदार्यता के साथ प्रतिपादन किया है।

पू. मुनि श्री बाल चन्द्र जी की भाव भासना, धर्माशय, एवं तात्पर्य को समझना भी हमारे लिये कठिन हो जाता यदि परम पूज्य भारत गौरव, विद्यालंकार, धर्म नेता, संयम शिरोमणि जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज यदि इसका हिन्दी अनुवाद नहीं करते तो।

हम विनम्रता पूर्वक प. पू. आध्यात्मिक संत, मुनि बालचन्द्र जी को स्मरण व अभिनन्दन करते हैं, तथा प. पू. भारत गौरव, विद्यालंकार, धर्म नेता, जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा उनके युगल चरणों में प्रणाम करते हैं। जिन्होंने हमें यह सरल, सुगम, सुबोधक, धर्मामृत दिया हैं। तथा साथ ही हम परम पूज्य राष्ट्र संत, विश्वधर्म प्रवर्तक, वर्तमान के वर्द्धमान जैनाचार्य श्री विद्यानंद महाराज के श्री चरणों में भी कोटिशः प्रणाम निवेदित करते हैं। जिनके तपो पूर्ण मंगलाशीष से यह कार्य सफल हो सका।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोगी ऐ. श्री विमुक्त सागर जी, छु. श्री विशंक सागर जी को समाधिरस्तु आशीर्वाद, मुद्रक अनिल कुमार जी चन्द्रा कापी हाउस आगरा को अपने न्यायोपार्जित धन का सद् उपयोग करने वाले को प्रत्यक्ष व परोक्ष रहे समस्त सहयोगियों को धर्म वृद्धि आशीर्वाद।

हमें विश्वास है कि इस ग्रंथ में यत् किंचित् कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ संयमी जन सुझाव व संकेत प्रेषित करने का पुरुषार्थ करेंगे। तथा सुधी पाठक गण हंसवत् गुणग्राही दृष्टि बनाकर, इस ग्रंथ को श्रद्धा, भक्ति, विनय व बहुमान के साथ आद्योपांत पढ़ने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। यदि इस ग्रंथ का स्वाध्याय करने से आपका एक कदम भी स्व-पर कल्याण व संयम बुद्धि में अग्रसर होता है, तो हृदय लोग पर प्रसन्नता का अनुभव करेंगे।

'इत्यलमति विस्तरेण'

-कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
संयमासक्त जिनचरणानुचर,
ॐ ह्रीं नमः

12/06/2001
दरियागंज, दिल्ली

सुकुमाल चरित्र
चारुदत्त चरित्र
गौतम स्वामी चरित्र
महीपाल चरित्र
जैन व्रत कथा संग्रह
धन्य कुमार चरित्र
सुलोचना चरित्र
सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
जिन दत्त चरित्र
कुरल-काव्य
पुराण सार संग्रह - 1,2
चेलना चरित्र
रयणसार
आहार दान
जिन श्रमण भारती
धर्म संस्कार भाग-1
सदार्चन सुमन
तनाव से मुक्ति
धम्म रसायणं
आराधना कथाकोश-1,2,3
तत्वार्थ सार
योगामृत-1,2
सार समुच्चय
महापुराण-1,2
चित्रसेन पद्मावती चरित्र
नंगानंग कुमार चरित्र
श्री राम चरित्र
अमरसेण चरिउ
नागकुमार चरित्र

सर्वोदयी नैतिक धर्म
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-1,2
करकंड चरित्र
जम्बूस्वामी चरित्र
शांतिनाथ पुराण-1,2
धर्मामृत-1,2
वीर वर्धमान चरित्र-1,2
सीता चरित्र
प्रभंजन चरित्र
सुरसुन्दरी चरित्र
भद्रबाहू चरित्र
हनुमान चरित्र
मौनव्रत कथा
सप्त व्यसन चरित्र
योगसार प्राभृत-1,2

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

यदि यह शास्त्र आपको अच्छा लगे तो आप सभी को पढायें। उत्सव, व्रत, त्यौहार, जन्म दिवस, पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में बाँटने एवं छापने योग्य समझें तो लागत मूल्य पर छपवाइये। ट्रस्ट -न्यास- फाउंडेशन आदि द्वारा छपवाना चाहते हो तो उनके नाम, चित्र, परिचय सहित छपवा सकते हैं।

प्रकाशक

मुनि श्री बालचन्द्र विरचित

योगामृत

आचार्य बतलाते हैं कि आत्मा को चलायमान करने के लिए पर वस्तु ही निमित्त कारण है। परन्तु निश्चयनय से विचार किया जाय तो आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्विकार अनन्त गुणों की धारक है। कहा भी है कि–

जोगणिमितं गहणं जोगां मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो॥

क्रिया रहित व निर्विकार चैतन्य ज्योतिरूप भाव से भिन्न मन, वचन, काय की वर्गणा के आलम्बन से व्यापार रूप हुआ प्रदेशों का हलनचलन लक्षणधारी योग है, जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से कर्मों का ग्रहण करता है। रागादि दोषों से रहित चैतन्य के प्रकाश की परिणति से भिन्न जो दर्शन मोह और चारित्र मोह से उत्पन्न हुआ भाव है वह रति, रागद्वेष मोह युक्त भाव है। यहाँ रति शब्द से अविनाभावी हास्य, व स्त्री, पुरुष, नपुसंक, वेदरूप नो कषाय को लेना व राग शब्द से माया व लोभ रूप राग परिणाम को लेना, द्वेष शब्द से क्रोध, मान, अरति शोक, भय, जुगुप्सा रूप ऐसे छः प्रकार के द्वेषभाव को लेना तथा मोह शब्द से दर्शन मोह व मिथ्या दर्शन भाव को लेना योग्य है। इन भावों में स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं। यहाँ बंध का बाहरी कारण योग है क्योंकि इसी के कारण कर्मों का ग्रहण होकर प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं तथा कषाय भाव अन्तरंग कारण है क्योंकि इसी कषाय भाव से कर्मों में स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं। जिससे बहुत काल तक कर्म पुद्गल आत्मा के साथ ठहर जाते हैं।

पुग्गलविवागदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्य जा दु सती कम्मागमकारणं जोगी॥

मन, वचन, काय से युक्त इस जीव के भीतर पुद्गल विपाकी शरीर

नाम कर्म के उदय से, जो कर्मों को खींचने में कारण शक्ति है उसको योग कहते हैं।

वास्तव में वही योग है जिसमें कर्मों का आस्रव होता है तथा प्रकृति या प्रदेश बंध होता है। योगों के तीव्र परिणमन से अधिक कर्म वर्गणाएं आती हैं तथा मन्द परिणमन से कम आती हैं-वर्गणाओं की गणना को ही प्रदेश बंध कहते हैं।

श्री गोमटसार में कहा है–

उक्कडजोगो सण्णो पज्जत्तो पयडिबंधप्पदरो
कुणदि पदसमुक्कस्स जहण्णये जाण विवरायं ॥210॥

भावार्थ—संज्ञी पर्याप्त जो कर्मों की प्रकृतियों को बांधने वाला है उसमें उत्कृष्ट योग होता है तथा असैनी अपर्याप्त जो बहुत प्रकृति बांधने वाला है उसमें जघन्य प्रदेशबंध होता है।

आगे की गाथा से प्रगट होगा कि जहां वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से वीर्य अधिक होता है, वहीं योग शक्ति अधिक कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करती है।

आउक्कम्मपदेसं छक्कं मोहस्स गुवणट्ठाणाणि।
सेसाणं तणुकसाआ बंधदि उक्कस जोगेण ॥211॥

आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबंध को छः गुण स्थान उल्लंघन अप्रमत्त गुणस्थानी करता है। मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश बंध को नवमा गुण स्थान अनिवृत्तिकरण धारी करता है तथा शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय इन छः कर्मों का उत्कृष्ट दसवां गुणस्थानवर्ती करता है। यहाँ उत्कृष्ट योग होता है।

योगों में कषायों के उदय के निमित्त से जो विशेषता हो जाती है उसी विशेषता से सातवें गुणस्थान तक आठों कर्मों के योग्य, नवमे तक आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों के योग्य व दसवें में मोह को भी छोड़कर मात्र छः कर्मों के योग्य कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। जहाँ कषाय का उदय बिल्कुल नहीं होता है वहाँ शुद्ध योगों से मात्र साता वेदनीय के ही योग्य कर्म वर्गणाओं

का ग्रहण होता है। आयु कर्म के योग्य वर्गणाओं का ग्रहण त्रिभाग आयु में ही संभव है। कषायों में जो शक्ति होती है उसी से ही कर्मों में स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं। आयु कर्म को छोड़कर सर्व ही पुण्य तथा पाप रूप कर्मों की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक तथा मंद कषाय से कम पड़ती है। आयु कर्म में देव, मनुष्य व तिर्यञ्च आयु की स्थिति मंद कषाय से अधिक व तीव्र से कम पड़ती है जबकि नरक आयु की स्थिति मंद कषाय से कम व तीव्र से अधिक पड़ती है। गोमटसार कर्म कांड में कहा है–

सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सओ दु उक्कस्स संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णे आउ गति य वज्जियाणं तु॥134॥

तिर्यञ्च, मनुष्य व देवायु को छोड़कर एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेशभाव या तीव्र कषाय से होता है तथा जघन्य स्थितिबंध उससे विपरीत विशुद्ध भाव या मंदकषाय से होता है।

अनुभाग बंध में विशेषता यह है कि चार घातिया कर्म व अशुभ नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु, इन सर्व कर्मों में कषायों की अधिकता से अधिक, कषायों के मंद होने से कम अनुभाग बंध होगा तथा सातावेदनीय, शुभ आयु कर्मों में कषायों की मंदता से अधिक व कषायों की तीव्रता से कम अनुभाग बन्ध होगा। जैसा श्री गोमटसार कर्म काण्ड में कहा है–

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं॥163॥

साता वेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बन्ध विशुद्धभाव या मन्दकषाय से तथा मन्द अनुभाग संक्लेशभाव या तीव्र कषाय से होगा तथा असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग संक्लेशभाव से व मन्द अनुभाग विशुद्ध भाव से होगा।

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्।
पुण्योपार्जन हेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि॥
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्-
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः॥

देव पूजा व भक्ति आदि बहुत से कार्य पुण्य को पैदा करने में समर्थ हैं उन्हें गृहस्थ को नित्य करना चाहिए, उनमें भी संसार समुद्र से तारने में जहाज के समान सत्पात्रों को दान देना यह देशव्रतधारी गृहस्थ का उत्कृष्ट गुण है।

प्रयोजन यह है कि बंध के कारणों को जानकर बंध रहित होने का यत्न करना योग्य है, परन्तु अशुद्ध भाव में उपयोग न हो तब शुभ कार्यों को ही करना उचित है। परन्तु ये शुभ भाव गृहस्थाश्रम में होने वाले अशुभ को रोकने के लिए शुभ राग परिणति उत्पन्न करने वाले दान पूजादि या षट् कर्म क्रिया प्रथमावस्था में होती हैं। इससे केवल अशुभ आस्रव रोका जा सकता है परन्तु हे योगी ! शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये शुभ और अशुभ दोनों को आस्रव बंध के लिये कारण समझकर तुझे सदा तीन गुप्ति, पाँच समिति, बारह अनुप्रेक्षा, 22 परीषहजय इनके द्वारा शुभ और अशुभ बंध के कारण कौन-कौन से हैं सबसे पहले यह समझने की जरूरत है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, ये अशुभ आस्रव, कर्म बंध के कारण हैं। ऐसा समझकर इन ऊपर कही भावना के द्वारा आस्रव को रोक कर अपनी आत्मा में रमण करना और उनका अनुभव करना यही आत्मा की प्राप्ति का उपाय है अन्यथा कर्मबंध को रोकने के लिये कोई उपाय नहीं है। अगर इस ऊपर कही हुई भावना का तू कर्मास्रव को रोकने के लिये साधन नहीं करता है तो कर्म की निर्जरा होना भी असंभव है। बिना कर्मास्रव के भाव को समझे या स्व और पर आत्मा के ज्ञान के बिना अथवा विवेक के बिना कितना भी कठिन तप किया जाय वह व्यर्थ है इसलिये हे योगी ! कर्मास्रव को रोकने के लिये तप करना यही कर्म की निर्जरा के लिये कारण है। ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव का आदेश है।

आत्मज्ञानी कौन हो सकता है ?

गरुडनध्यानं विषमं परिहरिसुव ळेंदडे शुद्धभावनेयिदं।
परमात्मननापोकतुं स्मरिसुतिरे मुक्तियप्पुदोंदाच्चरेये ॥44॥

अर्थ—गरुड़ का ध्यान करने से विष का नाश होता है। उसी तरह

शुद्ध भावना से सदा आत्मा अर्थात् परमात्मा का ध्यान करने से सम्पूर्ण कर्मों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होने से क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कोई आश्चर्य की बात नहीं है॥44॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में शुद्धात्मा के ध्यान का वर्णन किया है कि जैसे गरुड़ का ध्यान करने से सर्प का विष उतरकर भाग जाता है अर्थात् निर्विष होता है उसी तरह शुद्धात्मा का ध्यान करने से हे योगी! अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ कर्मरूपी विष फौरन नाश होकर यह जीवात्मा शुद्ध परमात्मा बन जाता है।

ध्यान करने वाले योगी कैसे होने चाहिये उसके विषय में तत्वसार में कहा है कि—

लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तहप जीवियेमरणे।
बंधो अरय समाणो झाण समत्थो हु सो जोई॥11॥

जो लाभ तथा अलाभ में, सुख अथवा दु:ख में, जीवन तथा मरण में, समान भाव रखता है और बंधु और मित्र में समभावधारी है वही योगी ध्यान करने की शक्ति रखता है। प्रवचन सार में कुंदाकुंदाचार्य ने भी कहा है कि—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥7॥

चारित्र ही आत्मा का धर्म है। समभाव को ही धर्म कहा गया है। मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम समभाव है। मोक्षमार्ग साधक साधु को ऐसा विजयी वीर होना चाहिए कि वह विषय कषायों को भली प्रकार वश में रखे। वीर होना योग्य है जिससे कि वह विषय कषायों को भली प्रकार वश में रख सकें। पाँचों इन्द्रियों के विषयों को भाव सहित जीतने वाला हो। जो जितेन्द्रिय हो, वही आत्मानन्द का गाढ़ प्रेमी होगा। वह क्रोधादि कषायों के आधीन न हो। निमित्त मिलने पर भी उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच धर्म का पालक हो। लाभ अलाभ में, सुख

दु:ख में, शत्रु मित्र में, सुवर्ण तृण में, मान व अपमान में समभाव तभी रख सकता है जब वह पाप पुण्य कर्म के उदय से अपनी ही करनी का फल जानकर विकार से रहित हो। जैसे धूप या छाया पड़ने पर बुद्धिमान सूर्य की गति का स्वभाव जानकर समभाव रखता है।

ध्यान के योग्य योगी जब व्यवहारनय को जानकर निश्चयनय से मुख्यता से काम लेता है तब इस नय से छ: द्रव्यों की पर्यायें नहीं दीखती किन्तु छ: द्रव्य अपने स्वाभाविक द्रव्य रूप में दीखते हैं। सर्व पुद्गल परमाणु रूप और सर्व जीव परम शुद्ध निर्विकार दीखते हैं। समभाव प्राप्ति का उपाय निश्चयनय से विश्व का अवलोकन करना है। योगी को विपाकविचय धर्म ध्यान पर भी दृष्टि रचनी चाहिए। अपने को साताकारी व असाताकारी सम्बन्ध मिलने पर व दूसरों के साता व असाताकारी संयोग देखकर कर्मों के उदय के भेद का विचार कर समभाव रखना चाहिए। समभाव से ही सम्यक्चारित्र या वीतराग युक्त विज्ञानधर्म का लाभ होता है। इस भाव में ही कषायों के अनुभाग की अत्यन्त मंदता है। यही भाव कर्म की निर्जरा व संवर का कारण है। जब तक समभाव की योग्यता न हो तब तक निर्ग्रन्थ पद को धारण करना योग्य नहीं है।

मोक्ष के लिये सामग्री—

भव्य पुरुष ही मोक्ष का साधन करके उस भव से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। स्त्री की पर्याय में वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है व अन्य ध्यान के योग्य शरीर की रचना में भी अंतर होता है। शरीर का बल-वीर्य ध्यान की स्थिरता का कारण है। दूसरे के भी साताकारी संयोग, तीव्र पुण्य के उदय बिना प्राप्त नहीं होते। मोक्ष के लिये सबसे पहले तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी चाहिये। सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा जब तक अर्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक काल मोक्ष जाने में होगा तब तक सम्यक्त्व नहीं होगा। इस काल की निकटता प्राप्त होना ही प्रथम काल लब्धि है। फिर क्षयोपशम लब्धि में पंचेन्दिय, सैनी, बुद्धिमान्, दु:खों की कमी रखता हुआ प्राणी होना चाहिये।

दु:ख में, शत्रु मित्र में, सुवर्ण तृण में, मान व अपमान में समभाव तभी रख सकता है जब वह पाप पुण्य कर्म के उदय से अपनी ही करनी का फल जानकर विकार से रहित हो। जैसे धूप या छाया पड़ने पर बुद्धिमान सूर्य की गति का स्वभाव जानकर समभाव रखता है।

ध्यान के योग्य योगी जब व्यवहारनय को जानकर निश्चयनय से मुख्यता से काम लेता है तब इस नय से छ: द्रव्यों की पर्यायें नहीं दीखती किन्तु छ: द्रव्य अपने स्वाभाविक द्रव्य रूप में दीखते हैं। सर्व पुद्गल परमाणु रूप और सर्व जीव परम शुद्ध निर्विकार दीखते हैं। समभाव प्राप्ति का उपाय निश्चयनय से विश्व का अवलोकन करना है। योगी को विपाकविचय धर्म ध्यान पर भी दृष्टि रचनी चाहिए। अपने को साताकारी व असाताकारी सम्बन्ध मिलने पर व दूसरों के साता व असाताकारी संयोग देखकर कर्मों के उदय के भेद का विचार कर समभाव रखना चाहिए। समभाव से ही सम्यक्चारित्र या वीतराग युक्त विज्ञानधर्म का लाभ होता है। इस भाव में ही कषायों के अनुभाग की अत्यन्त मंदता है। यही भाव कर्म की निर्जरा व संवर का कारण है। जब तक समभाव की योग्यता न हो तब तक निर्ग्रन्थ पद को धारण करना योग्य नहीं है।

मोक्ष के लिये सामग्री—

भव्य पुरुष ही मोक्ष का साधन करके उस भव से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। स्त्री की पर्याय में वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है व अन्य ध्यान के योग्य शरीर की रचना में भी अंतर होता है। शरीर का बल-वीर्य ध्यान की स्थिरता का कारण है। दूसरे के भी साताकारी संयोग, तीव्र पुण्य के उदय बिना प्राप्त नहीं होते। मोक्ष के लिये सबसे पहले तो सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी चाहिये। सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा जब तक अर्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक काल मोक्ष जाने में होगा तब तक सम्यक्त्व नहीं होगा। इस काल की निकटता प्राप्त होना ही प्रथम काल लब्धि है। फिर क्षयोपशम लब्धि में पंचेन्दिय, सैनी, बुद्धिमान्, दु:खों की कमी रखता हुआ प्राणी होना चाहिये।

फिर मन्द कषाय से विशुद्धि लब्धि होती है, फिर जिनवाणी की गाढ़ रुचिरूप देशनालब्धि, फिर परिणामों की विशुद्धतारूप प्रायोग्य लब्धि, फिर अनन्तगुण परिणामों की विशुद्धि को समय-समय बढ़ाने वाले करणलब्धि के परिणाम अंतमुर्हूत तक होते हैं। जब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तब स्वानुभव करने की लब्धि प्राप्त हो जाती है, ज्ञान, वैराग्य की लब्धि हो जाती है। प्रथम संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भाव पैदा हो जाते हैं। सम्यक्त्व होने के पीछे पाप कर्म का कम अनुभाग रूप बन्ध व पुण्य का विशेष तीव्र अनुभाग लिये बन्ध होता रहता है। इससे साताकारी सामग्री देवगति व मनुष्यगति में प्राप्त होती रहती है।

रांग तिर्यग्गतिंगळे नागिसुगुद्वेषमंतेनरकक्कोय्गुं।
रागद्वेषगळ्ता नागदे निले योगिगळ्गे कर्म किळिडगुं॥45॥

अर्थ—इष्ट विषय में राग प्रवृत्ति रखने से तिर्यञ्च गति उत्पन्न होती है। उसी तरह अनिष्ट विषयों में द्वेष करनेसे वह तुझे नरक की तरफ खींचकर ले जाता है। अगर हे योगी ! तू राग और द्वेष दोनों का त्याग करेगा तो कर्म नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होगी अर्थात् रागद्वेष दोनों का त्याग करने से योगीजनों का कर्म नाश होकर विशुद्ध निरंजन परमात्म पदवी प्राप्त होती है।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने यह बतलाया है कि योगी ! इतने विषय में रागद्वेष मत करो। वे यह हैं कि इष्ट विषय में राग करने से वह तिर्यञ्च गति बंध का कारण बनता है। उसी तरह अनिष्ट विषय में द्वेष करने से वह नरक गति बंध का कारण बनता है। राग और द्वेष अगर तेरी आत्मा में उत्पन्न नहीं होते हैं तो कर्म का नाश होता है। ऐसा इस श्लोक का अभिप्राय है। हे योगी ! अगर तू शीघ्र संसाररूपी बंधन से मुक्त होकर मोक्षपुरी जाना चाहता है तो तुझे इष्ट और अनिष्ट वस्तु के प्रति जो रागद्वेष होता है, उन दोनों को त्याग कर अपने स्वरूप में मग्न हो जा तो सम्पूर्ण कर्म का नाश कर मोक्ष लक्ष्मी का नाथ बन कर अनन्त सुखामृत आत्मानन्द का अनुभव करेगा।

परन्तु हे योगी ! तेरे आत्मा के साथ अनादि काल से मित्र के समान पुद्गल पिंडमय जो शरीर लगा हुआ है इस शरीर के साथ तेरा ज्यादा परिचय और मोह है। अतः इस मोह-राग को छोड़कर तू अपने आत्मा का परिचय नहीं कर पाता है और आत्मा के अन्दर रहने वाले अनन्त सुखादि गुणों का भी परिचय या पहचान आज तक नहीं हुई है फिर तू ध्यान किसका करेगा, प्रेम किस पर करेगा ? वस्तुतः तेरा प्रेम शरीर और शरीर सम्बन्धी विषय-वासनाओं के प्रति रहा था। तू यद्यपि इस शरीर के अन्दर परिपूर्ण रूप से सर्वांग में व्याप्त है। फिर भी तुझे उसका अनुभव नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि तुझे आज तक स्व और पर का ज्ञान अपने अन्दर नहीं हुआ। इसके बारे में आचार्य कहते हैं कि—

अजमेंक परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः॥
स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः॥
केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम॥
इति ज्ञेयं तदेवैकं श्रवणीयं तदेव हि।
द्रष्टव्यं च तदेवैकं नान्यन्निश्चयतो बुधैः॥
गुरूपदेशतोऽभ्यासा द्वैराग्यादुपलभ्य यत्।
कृतकृत्यो भवेद्योगी तदेवैकं न चापरम्॥
तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥
जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम्।
गतं तद्गतबोधात्मा तत्स्वरूपं स गच्छति॥

जो महात्मा जन्म मरण से रहित, एक उत्कृष्ट, शान्त और सब प्रकार के विशेषणों से रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर उसी आत्मा में स्थित

होता है, वही अमृत अर्थात् मोक्ष के मार्ग में स्थित होता है। वही अरहन्त, तीनों लोकों का स्वामी, प्रभु एवं ईश्वर कहा जाता है। केवलज्ञान, केवल दर्शन और अनन्त सुख स्वरूप जो वह उत्कृष्ट तेज है इसके जान लेने पर अन्य क्या नहीं जाना गया, उसके देख लेने पर अन्य क्या नहीं देखा गया, तथा उसके सुन लेने पर अन्य क्या नहीं सुना गया ? अर्थात् एक मात्र उसके जान लेने पर सब कुछ सुन लिया गया है। इस कारण विद्वान् मनुष्यों के द्वारा निश्चय से वही एक उत्कृष्ट आत्म तेज जानने योग्य है, वही एक सुनने योग्य है, और वही देखने योग्य है। योगीजन गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और वैराग्य से उसी एक आत्मतेज को प्राप्त करके कृतकृत्य होते हैं, न कि उससे भिन्न किसी अन्य को प्राप्त करके। उस आत्मतेज के प्रति मन में प्रेम को धारण करके जिसने उसकी भी सुनी है वह निश्चय से भव्य है व भविष्य में प्राप्त होने वाली मुक्ति का पात्र है। जो ज्ञान स्वरूप जीव कर्म से पृथक होकर अभेद अवस्था को प्राप्त हुई उस उत्कृष्ट आत्मा को जानता है और उसमें लीन होता है वह स्वयं ही उसके स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मा बन जाता है।

सम्पूर्ण परिग्रह त्यागे बिना मुक्ति नहीं इसलिए आगे के श्लोक में परिग्रह त्याग का उपदेश देते हैं–

वालाग्र परिग्रह में नालापं निन्ननदुवेकिडिसल् नेरेगुं।
स्थुल परिग्रह सहितं आकलकार्तपने नरकतिरक दोकाकगुं॥46॥

अर्थ–हे योगी ! ज्यादा बात करने से क्या फायदा। बाल के अग्रभाग के प्रमाण भोगापभोग पदार्थ तेरे नाश का कारण होता है अर्थात् तुझे निंद्य गति में ले जाने के लिये कारण होता है। फिर स्थूल परिग्रह से क्या कभी तू अपने जीवन को सुखमय बना सकता है। इस परिग्रह के निमित्त से जीव अनेक प्रकार के दु:खों को सहता हुआ संसार में भ्रमण करता है॥46॥

विशेषार्थ–इस श्लोक में आचार्य ने इस बात का विवेचन किया है कि परिग्रह रहित होने से आत्मा का कल्याण या मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है।

परिग्रहधारी साधु कितने भी कठिन तप करे तो भी कर्म की निर्जरा नहीं कर सकता है। इसलिये ग्रंथकार ने इस श्लोक में प्रतिपादन किया है कि अगर मुनि के पास बल के अग्र भाग के समान अर्थात् अणुपरमाणु मात्र भी परिग्रह रहे तो वह निंद्य गति को प्राप्त होता है। तो स्थूल परिग्रहधारी की क्या गति होगी ? अर्थात् नरक के सिवाय दूसरी गति नहीं हो सकती।

शंका—अगर ऐसा है तो मुनि के पास पीछी, कमंडल, पुस्तकादि वस्तुएँ गृहस्थी श्रावक के द्वारा दी जाती हैं। वे भी परिग्रह ही हैं उनको भी मुनि को रखना नहीं चाहिये, क्योंकि वे भी पर वस्तु होने के कारण मुनि को ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान—आचार्य उसका समाधान करते हैं कि मूर्छा परिग्रह है। कहा भी है कि "मूर्छा परिग्रहः" मूर्छा ही परिग्रह है, पर पदार्थ पर मोह होना ही परिग्रह है। परन्तु साधु के पास पीछी कमण्डल पुस्तकादि जो उपकरण उनके पास देखा जाता है वह संयमोपकरण हे। वे उपकरण संयम के साधनभूत हैं, इसलिये उनके रहने से परिग्रह नहीं कहा जाता है। हां, अगर उस मुनि का उन पर मोह हो जाये तभी वे परिग्रह में शामिल होकर बंध के लिये कारणभूत होगी। इसलिए मूर्छा ही परिग्रह है। अगर विचार कर देखा जाये तो साधु का अगर शरीर पर भी मोह होगा तो वह भी परिग्रह है। परन्तु साधु का मोह शरीर पर नहीं होता है क्योंकि साधु उस शरीर को संयम का साधन, तप का साधन या आत्मा का साधन मानता है और जो भी उनके पास उपकरण रहते हैं वे संयम साधन के लिए ही होते हैं। अगर स्व पर ज्ञान हीन साधु कदाचित् शरीर या संयमोपकरण के प्रति मोह करे तो वह साधु अपनी आत्म साधना करके मरणांत में दुर्गति को प्राप्त होता है उसकी क्रिया सभी निरर्थक होती है।

पद्मनंदी आचार्य ने कहा भी है कि—

व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतयें यद्दीयते पुस्तकं।
स्थानं संयम साधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा॥
स त्यागो वपुरादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
रांकिचन्यमिदं स संसृतिहरो धर्मः सतां संमतः॥101॥

सदाचारी पुरुष के द्वारा मुनि के लिये जो प्रेम पूर्वक आगम का व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है, तथा संयम की साधनभूत पीछी आदि भी दी जाती है उसे उत्तम त्याग धर्म कहा जाता है। शरीर आदि में ममत्व बुद्धि के न रहने से मुनि के पास जो किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं रहता है इसका नाम उत्तम आंकिचन्य धर्म है। सज्जन पुरुषों को अभीष्ट वह धर्म, संसार को नष्ट करने वाला है।

मुनि हमेशा मोह से रहित रहता है। कहा भी है कि–

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता।
गुहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः॥
तपस्यन्तोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः।
सहायाः स्युर्ये ते जगति यतयो दुर्लभतराः॥102॥
परं मत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा।
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः॥
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते।
जिनेन्द्राज्ञाभंगो भवति च हठात्कल्मषमृषेः॥103॥

मोह से रहित, अपने आत्महित में लवलीन तथा उत्तम चारित्र से संयुक्त जो मुनि मोक्ष प्राप्ति के लिये घर आदि को छोड़कर तप करते हैं वे भी विरले हैं अर्थात बहुत थोड़े हैं। फिर जो मुनि स्वयं तपश्चरण करते हुए अन्य मुनि के लिए भी शास्त्र आदि देकर उसकी सहायता करते हैं वे तो इस संसार में पूर्वोक्त मुनियों की अपेक्षा और भी दुर्लभ हैं।

आगम के जानकार मुनि ने समस्त बाह्य वस्तुओं को पर अर्थात्

आत्मा से भिन्न जानकर उन सबको छोड़ दिया है। फिर भी जब शरीर और पुस्तक आदि उसके पास रहती हैं तो ऐसी अवस्था में वे निष्परिग्रही कैसे कहे जा सकते हैं, ऐसी यदि यहां आशंका की जाय तो इसका उत्तर यह है कि उनका चूंकि उक्त शरीर एवं पुस्तक आदि से कोई ममत्वभाव नहीं रहता है अतएव उनके विद्यमान रहने पर भी वे अविद्यमान के ही समान है। हाँ, यदि उक्त मुनि का उनसे ममत्व भाव है तो फिर वह निष्परिग्रही नहीं कहा जा सकता और ऐसी अवस्था में उसे समस्त परिग्रह के त्याग रूप जिनेन्द्र आज्ञा को भंग करने का दोष प्राप्त होता है जिससे कि उसे बलात् पापबंध होता है। हे योगी ! सम्पूर्ण पर वस्तु के ममत्व को छोड़कर केवल अपने आत्म ध्यान में लीन होकर कर्मशत्रु से मुक्त हो जा। ऐसा उपदेश है।

तत्व सात हैं। सात तत्व में जीव की मुख्यता है। कहा भी है कि–

प्रागुद्देश्यः स जीवोऽस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात्॥

पहले जीव तत्व का निरूपण किया जाता है, फिर अजीव तत्व का किया जायेगा। उसके बाद आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का कथन किया जायेगा। जीव का निरूपण सबसे प्रथम रखने का कारण भी यही है कि सम्पूर्ण तत्वों का आधार मुख्य रीति से जीव पर ही पड़ता है। सातों तत्वों में जीव का ही सम्बन्ध चला जाता है। वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो वस्तुतः जीव तत्व की ही मुख्यता है। इसलिए सातों तत्वों में जीवतत्व को ही प्रधानता है इसलिये सबसे प्रथम उसी का ही वर्णन किया जाता है।

जीव निरूपण–

अस्ति जीवः स्वतः सिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान्।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढ़त्वाद्द्रव्यमव्ययम्॥

जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है। इसका आदि नहीं है, इसी प्रकार अन्त भी

नहीं है। यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिक अनन्त धर्म है। इसलिए यह नाश रहित द्रव्य है।

चार्वाक या कोई नास्तिक कहते हैं कि कोई स्वतंत्र जीव द्रव्य नहीं है किन्तु पंचभूत से मिलकर यह बन जाता है। इसका खण्डन करने के लिये आचार्य ने स्वत: सिद्ध कर दिया है। यह द्रव्य किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है किन्तु अपने आप सिद्ध है। इसलिए इसका न आदि और न अन्त है। पुद्गल द्रव्य की तरह इसके रूपादिक भी नहीं है। यह द्रव्य ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वरूप है। गुण नित्य होते हैं, इसलिए जीव द्रव्य भी नित्य है। इसका कभी भी नाश नहीं होता है, केवल अवस्था भेद होता रहता है।

फिर भी जीव का ही निरूपण है।

साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक्।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थ: सर्वोपेक्षोपि सर्ववित्॥

यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है। विश्व रूप है परन्तु विश्व में ठहरा नहीं है। सबसे उपेक्षा रखने वाला है, तो भी सबको जानने वाला है।

जीव का स्वरूप कहते हैं।

असंख्यातप्रदेशोऽपि स्यादखंडप्रदेशवान्।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोऽपि तन्मध्ये संस्थितोऽपि च॥

यह जीव असंख्यात प्रदेश वाला है तथापि अखण्ड द्रव्य है अर्थात् इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं तथा सम्पूर्ण द्रव्यों से वह भिन्न है तथापि उनके बीच में स्थित है।

जीव का स्वरूप और भी बतलाया है कि–

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि य:।
स्याद्द्वि धा सोऽपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदत:॥

शुद्ध नय की अपेक्षा यह जीव द्रव्य शुद्ध स्वरूप है, एक रूप है,

उसमें भेद-कल्पना नहीं है तथापि पर्याय दृष्टि से यह जीव दो प्रकार का होता है एक—मुक्त जीव, दूसरा अमुक्त जीव।

निश्चय नय उसे कहते हैं जो कि वस्तु के स्वाभाविक भाव को ग्रहण करे और व्यवहार नय वस्तु की अशुद्ध अवस्था को ग्रहण करता है। जो भाव पर निमित्त होते हैं, उन्हें ग्रहण करने वाला ही व्यवहार नय है। निश्चय नय से जीव में किस प्रकार का भेद नहीं है इसलिए उस नय से जीव सदा शुद्ध स्वरूप तथा एक रूप है। परन्तु कर्मजनित अवस्था के भेद से उसी जीव के दो भेद हैं एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो कर्मोपाधि सहित आत्मा है वह संसारी आत्मा है और जो उस कर्मोपाधि से रहित है वही मुक्त अथवा सिद्ध आत्मा कहलाता है। ये दो भेद कर्मोपाधि से हुए हैं और कर्मोपाधि निश्चयनय से जीव का स्वरूप नहीं है इसलिए जीव में द्रव्य दृष्टि से भेद नहीं, किन्तु पर्याय दृष्टि से भेद है।

संसारी जीव किसे कहते हैं।

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।
मूर्छितोऽनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावलिकर्मभिः॥

जो आत्मा कर्म से बंधा हुआ है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप से रहित है और अनादि काल से ज्ञानावरणीय आदिक आठ कर्मों से मूर्छित हो रहा है।

आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों ने उन गुणों को ढक दिया है। इन्हीं आठों कर्मों में जो मोहनीय कर्म है, उसने उन्हें विपरीत स्वाद का बना दिया है। इसलिए संसारी आत्मा असली स्वभाव का अनुमान नहीं करता है। जब यह दोष और आवरण मूल आत्मा से हट जाता है। तब वही आत्मा निज शुद्ध रूप का अनुभव करने लगता है।

प्रश्न—कर्म का बन्ध कब से है ?

समाधान—जीव-कर्म का सम्बन्ध अनादि से है। कहा भी है कि—

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः॥

यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है इसलिए दोनों का सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः।
अन्यथा दोष एव स्यादितरेतरसंश्रयः॥

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनक पाषाण का सम्बन्ध अनादि कालीन होता है। यदि जीव पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसी को कनक पाषाण कहते हैं। कनकपाषाण खान से मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोने का और पत्थर का हमेशा से सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्म का भी हमेशा से सम्बन्ध है। यदि जीव-कर्म का सम्बन्ध अनादि से न माना जाये तो अन्योन्याश्रय दोष होता है।

तब आचार्य कहते हैं कि—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं-
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः-
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं॥

हे लोक के जीवो ! अनादि संसार से लेकर अब तक अनुभव किये हुए मोह को छोड़ो और रसिक जनों को रुचने वाले ज्ञान का आस्वादन करो क्योंकि इस लोक में आत्मा किसी परद्रव्य के साथ प्रगट रीति को एकत्व को

किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता। आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं है। देव गुरुशास्त्र के ऊपर श्रद्धान रखना भगवान द्वारा कहे हुए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों पर श्रद्धान रखना, इसको व्यवहार सम्यक्त्व बतलाया है। इसके अलावा छः द्रव्य, नौ पदार्थ और पंचास्तिकाय ये सब मिलकर सत्ताईस पदार्थ माने गये हैं। अज्ञानी जीवों को समझाने के लिये सबसे पहले व्यवहार धर्म का निरूपण किया गया है। जो जीव सत्ताईस तत्वों में जीव तत्व को स्व और पर के द्वारा जानकर इन सभी तत्वों से भिन्न आत्मस्वरूप को जानकर पर तत्व को हेय मानता है, वह ज्ञानी होकर अपने स्वरूप में लीन होता है, उसमें रमण करता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप अपनी आत्मा को समझकर अपने ही अन्दर रमण करता हुआ अनादिकाल से अपनी आत्मा में लगे हुए पाप और पुण्य रूप मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करता है वही जीव सुखी होता है। यह अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है किन्तु सर्वज्ञ ने ऐसा बताया है कि जड़ और चेतनद्रव्य ये दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। ये किसी प्रकार से भी एक रूप नहीं होते। इस कारण हे अज्ञानी ! तू पर द्रव्य को आत्मा मानना छोड़ दे, इसलिए आचार्य अमृत चन्द्रसूरि ने भी कहा है कि–

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त।
पथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन-
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं॥23॥

हे भाई ! तू किसी प्रकार महान कष्ट से अथवा मर करके भी तत्वों में कौतूहली हुई शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त अथवा 48 मिनट अपने को पड़ौसी मानकर आत्मा का अनुभव कर जिससे कि अपनी आत्मा को विलास रूप सर्व परद्रव्यों से रहित देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ

एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ सके।

हे योगी ! व्यवहारनय पराश्रित है। कुंदकुंदाचार्य ने भी कहा है कि–

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥56॥

यहाँ पर व्यवहारनय, पर्यायार्थिक होने से पुद्गल के संयोगवश अनादि काल से प्रसिद्ध, जिसकी बंधपर्याय है ऐसा जीव कुसुम्भ के लाल रंग से रंगे हुए रुई के वस्त्र की भांति औपाधिक वर्णादिभावों को आलंबनकर प्रवृत्त होता है। इसलिए वह व्यवहारनय दूसरे के भावों को दूसरा का कहता है और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलंबन कर प्रवृत्त होता है। वह सब परभावों को पर कहता है, उनका निषेध करता है। इसलिए बारहवें गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं है। इस प्रकार भगवान् का कथन स्याद्वाद सहित युक्ति पूर्ण है॥56॥

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्यान तत्तत्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरवलादेकत्वमात्मांगयोः॥27॥
इति परिचिततत्वैरात्मकायैकतायां,
नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां कस्य,
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव॥28॥

शरीर और आत्मा का व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है इसीलिये शरीर के स्तवन से आत्मा पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहा जाता है और निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। वह चैतन्य का स्तवन तो जितेन्द्रिय, जितमोह,

क्षीणमोह कहने से होता है। तीर्थंकर का स्तवन भी दोनों नयों से होता है उसके बल से आत्मा और शरीर का एकत्व निश्चय से नहीं है।

इस तरह जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है, ऐसे मुनि ने आत्मा और शरीर के एकत्व को नय के विभाग की युक्ति द्वारा अत्यन्त उच्छादन किया है। ऐसा होने पर वह ज्ञान यथार्थ रूप में किस पुरुष के प्रकट नहीं होता अर्थात् अवश्य प्रगट होता ही है। वह अपने निज रस के वेग द्वारा खीचा हुआ एक स्वरूप होकर प्रगट होता है।

समभाव ही आत्मा का स्वभाव है यह बतलाते हैं—

समभावने मिक्क तपं समभावने ताने मिक्क सच्चारित्रं।
समभावने शुद्धात्मं समभावने सकलकर्मनिर्मूलकरं॥48॥

अर्थ—जीवन मरण में, लाभ अलाभ में, अनष्टि वस्तुओं के संयोग में इष्ट वस्तुओं के वियोग में, शत्रु और मित्र में, सुख और दु:ख आदि में समभाव रखना ही उत्तम तपस्या है, समभाव ही उत्तम चारित्र है, समभाव ही शुद्धात्मा है, और समभाव ही समस्त कर्मों को नाश करने वाला है॥48॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह विवेचन किया है कि समभाव ही आत्मा का स्वरूप है, समभाव ही उत्तम चारित्र है। समभाव ही आत्मा का विशुद्ध स्वरूप है। इसके अलावा और कोई आत्मा का रूप नहीं है। सम्पूर्ण पर वस्तु से या पर पदार्थ से भिन्न ज्ञानानंद शुद्ध चैतन्य जो आत्मा का स्वरूप है वही समभाव है। योगी के लिये उसी समभाव का अध्ययन करना, इसमें लीन रहना, कर्त्तव्य है। जो आत्मज्ञानी मुनिराज है वे हमेशा परवस्तु से भिन्न एकात्मा का ही आलम्बन करते हैं। सुख और दु:ख से होने वाले रागद्वेष से कभी चलायमान न होकर वे निजानंद अपने स्वरूप में ही लीन रहते हैं। योगी हमेशा यही समझते हैं कि—

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निन्दन श्रुति करण।
अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरण॥

शत्रु और मित्र, महल और मशान, सोना और काँच, निन्दा करना और प्रशंसा करना, अर्घ चढ़ाना अर्थात् पूजा करने में और तलवार मारने में अर्थात् अपमान करने या कष्ट देने के अवसर में संसारियों की तरह राग और द्वेष को मन में न लाकर सदा साम्यभाव धारण करते हैं।

तप तपै द्वादश धरें वृषदश रतनत्रय सेवें सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरें चहैं नहिं भवसुख कदा॥
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब॥

मुनिजन, अनशनादि बाह्य तप और प्रायश्चित आदि अन्तरंग तप इस तरह बारह प्रकार के तप करते हैं। उत्तम क्षमादि दस प्रकार के धर्म धारण करते हैं। हर समय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सेवन करते हैं। मुनियों के साथ में अथवा अकेले विहार करते हैं। कभी संसार के सुखों की इच्छा नहीं करते। इस प्रकार सकल संयम-सकल चारित्र के होने पर शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है और अन्य सांसारिक पदार्थों से सब तरह चित्त हट जाता है।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया॥
निज मांहि निज के हेत निज करि, आपको आपै गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यौ॥

जिसने बहुत तेज धारवाली सुबुद्धि रूपी अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी, छैनी से अन्तर के मल को टुकड़े-टुकड़े करके और वर्ण रस आदि पुद्गल के गुणों से तथा राग-द्वेष आदि भाव कर्मों से अपने आपको अलग कर दिया है, वही ज्ञानी अपने आप में अपने लिये अपने द्वारा अपने आपको प्राप्त करता है। तब उसकी दृष्टि में गुण और गुणी में, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

जहं ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा।
प्रकटी जहाँ दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकै लसा॥

उस अवस्था में ध्यान, ध्यान करने वाले और ध्यान योग्य में कोई वचन भेद नहीं होता। वहाँ चेतन भाव ही कर्म है, चेतना ही कर्ता है, और चेतना ही क्रिया होती है। वहाँ कर्ता कर्म और क्रिया में कोई भिन्नता नहीं रह जाती। जब शुद्धोपयोग की दशा प्रगट हो जाती है, वहाँ दर्शन-ज्ञान और चारित्र ये तीनों भेद एकाकार हो जाते हैं।

परमाण नय निक्षेप को न उदोत अनुभव में दिखैं।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो विषैं॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलन तें।
चित पिंड चंड अखण्ड सगुण-करण्ड च्युत पुनि कलन तें॥

आत्मा के अनुभवकाल में अर्थात् शुद्धोपयोग में प्रमाण, नय, प्रमाण का अंश और नय अथवा प्रमाण से जानने योग्य पदार्थ का प्रकाश नहीं दीखता है। हर समय, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य सहित मालूम होता है और ऐसा अनुभव होता है कि मुझमें जो उपयोग को नष्ट करने वाले रागादिभाव है वे मुझसे भिन्न हैं। मैं शुद्ध उपयोगवान् हूँ, मैं मुक्ति स्वरूप हूँ, मुक्ति का साधने वाला हूँ, और मैं कर्म और कर्म के फलों से बाधित होने वाला नहीं हूँ, चेतना का समुदाय हूँ एवं प्रकाशमान एवं अविनाशवान्, अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिटारा या भण्डार हूँ और फिर समस्त कर्मफल से सर्वथा रहित हूँ।

समभाव का लक्षण कहा भी है कि हे आतमन् ! तू संसार में समभाव के बिना विकार भाव को प्राप्त करके परिभ्रमण करता आया है इसलिए अब तू पर वस्तु के अवलम्बन को छोड़कर अपनी आत्मा का ही आश्रय कर। जब तक पर के आश्रित रहेगा तब तक तुझे इस शरीर के साथ सुख और शांति नहीं

मिल सकती है। अब आगे कहते हैं कि कर्मों की संगति से दूर हो जा। ऐसा कहते हैं कि–

दुक्खाइं अणेयाइं सचियाइं परवसेण संसारे।
इण्हं सवसो विसच्चु अप्पसहावे मणो किच्चा॥42॥

हे आत्मन् पर कर्मों के आधीन हो तूने संसार में अनेक दुख सहे हैं अब आत्म स्वभाव में चित्त लगाकर स्वाधीन हो इन दु:खों को सह। जिस समय क्षुधा, प्यास, शीत उष्ण आदि की तीव्र पीड़ा सहने का अवसर मिल जाय उस समय मुनि को यह भावना करनी चाहिए कि–हे आत्मन् ! जन्म जरा मरण से व्याप्त इस चतुर्गतिरूप संसार में कर्मों के आधीन हो तूने तिल भर शरीर का छिदना, कट जाना, तेल से भरे हुए तप्त कहाड़ों में पड़ना, असिपत्रों में शरीर के खंड हो जाना, गरम गरम बालू में नृत्य करना, आपस में लड़कर एक दूसरे के शस्त्र से कट जाना, आरा आदि से चिर जाना, अत्यन्त भार का ढोना, बंधना, जलना, शीत उष्ण की बाधा सहना, दरिद्र होना, पुत्र प्रिया का वियोग सहना, राजा से तिरस्कार और जुआ आदि दुर्व्यसनजन्य पीड़ा का सहना, दूसरे की विपुल ऋद्धि से मन में क्लेश होना आदि अनेक घोर से घोर क्लेश सहे हैं। इस समय यद्यपि तेरे ऊपर घोर आपत्ति पड़ी है तथापि यह तेरे आधीन है क्योंकि स्त्री-पुत्र आदि से विरक्त होकर सन्यास धारण कर इन परीषहों को स्वयं तूने अपने ऊपर आने की आज्ञा दी है इसलिए शुद्ध आत्मा में मन को लगाकर प्रसन्नता से उन्हें सहना चाहिए। परीषहों के तीव्र दु:खों से दुखित मुनि जिस समय परम उपशम सम्बन्धी भावना भाता है उस समय उसके कर्मों का नाश होता है। यह अब कहते हैं।

अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा।
जइ तो णिहणसि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण॥43॥

हे आत्मन् ! परीषहों की तीव्र वेदना से दु:खित होकर जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय अर्ध क्षण में तेरे समस्त अशुभ कर्म

नष्ट हो जायेंगे। शरीर आदि मेरे हैं, मैं इनका हूँ, इत्यादि विचारों का निग्रह करना। जिस प्रकार मेघ से आकाश विकृत नहीं होता उसी प्रकार जन्म जरा रोग आदि विकार भी विशुद्ध आत्मा को विकृत नहीं बना सकते, उनसे शरीर विकृत बन सकता है। इस प्रकार का विचार करना तथा मोहजनित और भी नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों को नष्ट कर शुद्धचिद्रूप में स्थिति करना सुसमा भावना है। जो मुनि भूख-प्यास, शीत-उष्ण, दंश-मशक आदि की तीव्र वेदना से आक्रांत होकर विशुद्ध भावों से उपर्युक्त भावना को अपनाता है। उसके देखते देखते समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। किन्तु जब तक उपर्युक्त भावना का अवलम्बन नहीं किया जाता तब तक अशुभ कर्मों का नाश नहीं हो सकता। इसलिए मुनि को चाहिए कि वह परीषहों की तीव्र वेदना के उपस्थित हो जाने पर भी परमात्मा की भावना अवश्य करे। परीषहों के सहने में असमर्थ हो यदि कोई मुनि चारित्र का त्याग कर देता है, तो उसे इस लोक, परलोक में क्या फल मिलता है? इस बात को कहते हैं।

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी।
भवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया॥44॥

जो पुरुष परीषह सुभटों से भयभीत होकर चारित्ररूपी संग्राम भूमि को छोड़ भागते हैं वे संसार में हास्यपात्र बनते हैं और अनेक प्रकार के दु:खों का उन्हें सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार शूरवीरों से भयभीत होकर संग्राम में पीठ दिखाने वाला पुरुष संसार में हंसी का पात्र बनता है और राजदंड निन्दा आदि अनेक प्रकार के दु:खों को सहता है उसी प्रकार जो पुरुष चारित्ररूपी विस्तीर्ण संग्राम भूमि से यह जानकर भी कि व्रत समिति गुप्ति आदि विशाल योद्धाओं के सामने किसी की दाल नहीं गल सकती, निर्बल हो परीषहरूपी कुछ सुभटों से भय कर उसे पीठ दिखाकर भाग जाता है, चारित्र का पालन करना छोड़ देता है उस पुरुष की सब लोग हंसी करते हैं और चारित्र से भ्रष्ट हो जाने पर उसे नर-नारक आदि गतियों में भ्रमण कर

तीव्र दु:ख भोगने पड़ते हैं। इसलिए जो पुरुष संसार में हंसी से भय करने वाले हैं और संसार के दु:खों को भोगना नहीं चाहते उन्हें चाहिए कि वे चारित्र को प्राप्त होकर परीषहों के भय से उससे विमुख न हों किन्तु परीषह रूपी सुभटों की कठिन मार झेलते हुए भी आगे बढ़ते चले जायँ, अखण्ड अविनाशी मोक्ष राज्य को पाकर कीर्ति का उपार्जन करें तथा समस्त प्रकार के दु:खों से छूटें। परीषहों से भयकर तीनों गुप्तियों का आश्रय करना चाहिए और मन को मोक्ष में लगाना चाहिये। ग्रंथकार बतलाते हैं।

परिसहपरिचक्कमिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं।
ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणवाणं॥45॥

जिस समय परीषहरूपी शत्रु से मुनि को भय हो उस समय उसे तीनों गुप्ति रूपी अगम्य दुर्ग-किले में प्रवेश करना चाहिए और बाण के समान चंचल मन को स्व स्वरूप मोक्ष में लगाना चाहिए। योग मन, वचन काय का भले प्रकार निरोध करना गुप्ति है और वह मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार की है। इस गुप्तित्रय को ही परीषहरूपी शत्रुओं के लिये अगम्रू किला चित्चमत्कार मात्र परब्रह्म स्वरूप बतलाया है अर्थात् आत्मा की चिच्चमत्कार मात्र परब्रह्म स्वरूप अवस्था में ही भली प्रकार मनोगुप्ति आदि गुप्तियाँ होती हैं। इसलिये निश्चयनय से वे चिच्चमत्कार मात्र परब्रह्मस्वरूप ही तथा मन वचन काय की गुप्ति में कारण परम समय सार परब्रह्म परमात्मा की भावना प्रधान कारण है क्योंकि जब तक परब्रह्म परमात्मा की विशुद्ध भावों से भावना नहीं की जाती तब तक गुप्तियों की प्राप्ति नहीं होती। समयसार कलश में यह भी कहा है।

अधिक बोलने और अनेक प्रकार के दुर्विकल्प संकल्प विकल्प की आवश्यकता नहीं। यहाँ पर कर्मफलों से रहित एक और परम समयसार विद्यमान है सदा इसी की भावना करो क्योंकि आत्मिक रसस्वरूप पूर्णविज्ञान की प्रगटता के धारक समयसार से भिन्न कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं। जब मुनि

को यह मालूम पड़े कि परीषहरूपी शत्रु सेना का मुझ पर भयंकर वार हो रहा है, भूख-प्यास की वेदना मुझे बुरी तरह सता रही है उस समय उसे परब्रह्म परमात्मा की भावना कर इस गुप्तिरूपी सुरक्षित किले का अवलंबन करना चाहिये। सहज सिद्ध चिदानन्द चैतन्यस्वरूप में स्थित और इंद्रिय विषयों में घूमने वाले बाण के समान चंचल मन को समस्त कर्मों के अभावस्वरूप मोक्ष में स्थिर करना चाहिये अन्यथा परीषह सुभट चारित्ररूपी संग्राम में घायल कर संसार रूपी कैदखाने में पटक देंगे और वहाँ पर अनंत दु:ख सहने पड़ेंगे। परीषहों की वेदना से तप्त पुरुष यदि ज्ञानरूपी शीतल सरोवर में प्रविष्ट होता है तो क्या प्राप्त करना है इस बात को आचार्य कहते हैं।

परिसहदवनलतत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो।
ससहावजलपरित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो॥46॥

परीषह रूपी दावानल से सन्तप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञानरूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और स्वभावरूपी जल में स्नान करता है उस समय इसे निर्वाण, मोक्ष धाम की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार दावानल से संतप्त मनुष्य शीतल जल से भरे हुए सरोवर में प्रवेश करे और मनमानी डुबकी मार-मार स्नान कर शांतिलाभ करता है उसी प्रकार जो मनुष्य शरीर संताप के कारण भूख प्यास शीत उष्ण आदि परीषहों से खिन्न होकर जिस समय ज्ञान अर्थात् परीषह जिसे दु:ख पहुँचा सकते हैं वह मैं नहीं हूँ वह शरीर है, मैं चिदानन्द चैतन्यस्वरूप का धारण करने वाला हूँ मेरे पास परीषह लेशमात्र भी नहीं फटक सकता इस प्रकार के भेद विज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करता है और वहाँ सहज शुद्ध निर्विकार परमात्मस्वरूप मेघ से उत्पन्न आत्मिक शुद्धपरमानन्दमयी स्वभाव से मनमाना अवगाहन-स्नान करता है उस समय वह संसार संबंधी समस्त संकल्प विकल्पों का सर्वथा त्याग कर देता है एवं परम शांतिस्वरूप को प्राप्त होता है जहाँ कि उसे संसार का कोई भी दु:ख नहीं सहना पड़ता है। इसलिए परमात्मपद के अभिलाषी मुनि को

चाहिये कि जब अपने चित्त को परीषह रूपी दावानल से संतृप्त देखे उस समय भेद विज्ञान रूप सरोवर में प्रवेश कर स्व स्वभाव जल में गोते लगावे। यदि कदाचित् मुनि को घोर उपसर्गों का सामना पड़े तो उस समय उसे क्या करना चाहिये ? यह बात कहते हैं।

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा वहुविहा हु दुहजणया।
ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण॥47॥

यदि किसी तरह नाना प्रकार के दुःख देने वाले उपसर्ग मुनि के लिये आकर उपस्थिति हो जायँ तो उसे चाहिये कि वह समभावों से उन्हें अवश्य सहे, उपसर्गों से भयभीत हो चारित्र से न डिगे। रागद्वेष न कर दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, वन भवन, अलाभ-लाभ, काँच-सुवर्ण, आदि को समान मानना, किसी को अच्छा बुरा न विचाराना ही समभावना है। कहा भी है।

सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशमगविधौ कर्दमे कुंकुमे वा।
पल्यंके कंटकाग्र दृषादि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु॥

उत्तम समता के स्थान पर जिस महात्मा का मन महल मरघट, स्तुति-निंदा, कीचड़-केशर, सेज-ककरीली भूमि, पत्थर-चंद्रकांतमणि, चाम-चीन देश के वस्त्र शीर्ण शरीर और देवांगना में ऊँच नीच का विकल्प नहीं करता सबको समान रूप से समझता है वह मुनि शान्त भाव का धारक गिना जाता है अर्थात् महल मरघट आदि उत्तम-हीन दोनों पदार्थों को समानरूप से मानना ही साम्यभावना है। यदि किसी कारण से नाना प्रकार के दुःख देने वाले घोर उपद्रव आकर उपस्थित हो जाय तो मुनि को चाहिए कि वह समभाव से समस्त उपद्रवों को सहन करे। घोर वेदना के होने पर भी अपने शुद्ध स्वरूप से विचलित न हो। क्योंकि–

णाणमयभावणाए भाविय चित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥48॥

जिन पुरुषों के चित्त में सदा ज्ञान स्वरूप भावना विराजमान रहती है

ऐसे उत्तम पुरुषों ने अचेतन आदि चारों प्रकार के घोर उपसर्गों को सहा है। देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और अचेतनकृत ये चार प्रकार के उपसर्ग हैं। जिस समय मुनिगणध्यान में लीन होते हैं उस समय उनमें बहुत को देवों आदि द्वारा घोर उपद्रवों को सहना पड़ता है किंतु पुरुषों में सिंह के समान वे मुनि अपने चित को ज्ञानमय भावना में लीन कर उन उपसर्गों को सहते हैं और अपने शुद्धात्मध्यान से जरा भी नहीं विचलित होते । किन-किन ने कौन-कौन से उपसर्ग सहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रंथकार अचेतनकृत उपसर्ग और तिर्यञ्चकृत उपसर्गों के सहने वाले महानुभावों के नाम का उल्लेख करते हैं।

सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु वेयणारहिओ।
सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥49॥

राजकुमार शिवभूति ने अचेतनकृत घोर उपसर्ग और सुकुमाल और कोसल मुनियों ने तिर्यचकृत भयंकर उपद्रव सहा था। कुमार शिवभूति को क्या और कैसे अचेतनकृत उपसर्ग सहने पड़े थे इस बात का यहाँ उल्लेख करते हैं–

चंपापुरी में प्रचंड पराक्रम का धारक विक्रमनामक राजा राज्य करता था उसके शिवभूति नाम का पुत्र था जो विभूति में ईश्वर की तुलना करता था। एक दिन राजकुमार शिवभूति सानंद बैठे थे कि अचानक ही उनकी दृष्टि आकाश की ओर गई और उसी काल में उत्पन्न हुई आंधी से जल परिपूर्ण मेघ को पल भर में खंड-खंड रूप में छिन्न भिन्न देख सहसा उनके मन में ये विचार तरंगें उछलने लगीं-अहा! इस संसार को सर्वथा धिक्कार है जहाँ पर जरा भी सुख दृष्टि गोचर नहीं होता परन्तु ये मूढ़ जीव क्यों इस बात को नहीं समझते। हाय ! मोह से अन्धे ये जीव क्षणविनाशीक और दुष्ट शरीर के लिये अनेक प्रकार के आरम्भ करते रहते हैं। बस इस प्रकार वैराग्यरंग रंजित कुमार शिवभूति ने देखते-देखते तृण के समान समस्त भोगों को तिलांजलि दे दी और वन में जाकर दिगंबर दीक्षा से दीक्षित हो गये। कदाचित् योगाभ्यास और दुश्कर तप का आचरण करने वाले मुनिराज शिवभूति वन में किसी वृक्ष के

नीचे प्रतिमायोग से विराजमान थे। अचानक ही बांसों के घिसने से उत्पन्न जाज्वल्यमान दावानल जलते हुए दारू वृक्ष और फटते हुए बांसों के टूटने से महा भयंकर हो समस्त वन को भस्म करने लगा और उस निर्दयी ने मुनिराज को भी घोर पीड़ा पहुँचानी प्रारम्भ कर दी। मुनिश्रेष्ठ शिवभूति परम विद्वान और संसार के विचित्र चरित्र से वास्तव में भयभीत थे। भला ऐसा भयंकर भी दावानल उनका क्या बाल बांका कर सकता था ? वे धीर वीर मुनिराज जलते हुए वृक्ष के नीचे बराबर विराजमान रहे। तेजी से वृक्ष के खण्डों ने अंगार का रूप धारण कर मुनि का सारा शरीर जला डाला परन्तु वे अपने ध्यान से न डिगे। दृढ़ रूप से घोर उपद्रव सहते रहे।

ऐसा साहस करने के लिये सम्यग्दृष्टि पुरुष ही समर्थ हो सकते हैं जहाँ पर कि वज्र गिर रहा है और भय से कंपायमान तीनों लोक ने जहाँ का मार्ग छोड़ दिया है वहाँ पर वे स्वभाव से ही समस्त शंका को छोड़कर और अपने को अखण्ड ज्ञानस्वरूप शरीर का धारक जानकर कभी भी अपने ज्ञान ध्यान से विचलित नहीं होते। बस इस घोर उपसर्ग के समय मुनिराज शिवभूति ने परब्रह्म परमात्मा की भावना की। कर्मों के सर्वथा नाश से केवल ज्ञान प्राप्त कर अविनाशी मोक्ष सुख का अनुभव किया। इस प्रकार समभावी महान् मुनियों की कथाएँ शास्त्र में मौजूद हैं। इसी प्रकार हे योगी! समभाव धारण किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वही सम्यग्दर्शन, वही सम्यग्ज्ञान और वही सम्यक्चारित्र है उसका एकत्रित होना ही मोक्ष और ये ही शुद्धात्मा का स्वभाव है और इसी का नाम समभाव है। इसलिये समभाव का अभ्यास करना योगियों के लिये अत्यंत आवश्यक है ऐसा गुरु का उपदेश है।

कृतकर्मोदयदिंद सौख्यतति मेणु:खोत्करं वर्कुमे।
कति मोहं तदथेद्यमेंदु किदु दसिनात्मना दंदु सं-॥
चितकर्म लयभागुतेय्दे नव कर्मोघास्त्रवं मरणगुमा:।
कृतकृत्यं बळियं सुदुग्धमणि पंतिर्कुं निजज्योतिषिं॥49॥

अर्थ—पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से अनेक प्रकार के सुख समूह और

पाप के उदय से दु:ख का समूह आता है। अगर ऐसा होता है तो हे योगी! ऐसी क्षणिक पुण्य संपत्ति के ऊपर क्यों इतना मोह करता है और हर्ष विषाद क्यों करता है ? यह क्षणिक पुण्य थोड़ी देर के लिये सुख के समान प्रतीत होकर अंत में दु:ख का कारण बनकर नरक गति का कारण बनता है। इससे पुन: यह जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। वह कर्म चक्र है ऐसा समझकर हर्ष विषादों को छोड़कर इससे स्वत: उदासीन हो तो वह संचितकर्म नष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् कृतकृत्य हुई आत्मा अपने स्व प्रकाश से उत्तम दूध के समान या रत्न के समान प्रतीत होती है। फिर वह आत्मा पाप पुण्य दोनों से भिन्न अपने आप में मग्न होकर सम्पूर्ण कर्म के नाश से पवित्र होती है ऐसा इसका सारांश है॥49॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह विवेचन किया है कि पूर्वजन्म के पुण्य उपार्जन से अनेक प्रकार के इंद्रियजन्य भोग संपत्ति सहित चक्रवर्तीपद देवेन्द्र के पद आदि बड़े-बड़े पद मिलते हैं। परन्तु पाप उपार्जन से नहीं मिलते। बल्कि पाप से पाप की उत्पत्ति का फल मिलता है। परन्तु वह पुण्य भी अगर सम्यक्त्व रहित होगा तो वह केवल संसार का कारण होकर अंत में नरकगति का कारण होता है। अगर सम्यक्त्व सहित यह भव्य जीव नरक भी पाता है तो भी अच्छा है परन्तु सम्यक्त्वरहित स्वर्ग संपदा अत्यंत दु:खदायी है। प्रथम ग्रहस्थावस्था में रहने वाले भव्य जीवों के लिये अशुभ पाप को धोने के लिये देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्यायादि क्रियाओं के आचरण करने के हेतु कहा गया है। गृहस्थ को इन क्रियाओं के अलावा और कोई साधन नहीं है क्योंकि जब तक वह गृहस्थावस्था में फँसा हुआ रहता है तब तक उसको अशुभ कर्म और मन वचन और काय तीन योग के द्वारा आने वाले अशुभ आस्रव को रोकने के लिये प्रतिदिन इन क्रियाओं को करना उचित है।

अगर इन छहों क्रियाओं को गृहस्थ नहीं करता है तो हमेशा पापरूपी कीचड़ में फँस कर अंत में पुन: अनेक प्रकार की निंद्यगतियों में उत्पन्न होता है और अनेक प्रकार के असह्य दु:ख उठाने पड़ते हैं। इसलिये श्रावक अवस्था में दान पूजादि को सम्यक्त्व सहित करने के लिये आचार्य ने बतलाया है।

अगर सम्यक्त्व सहित पुण्योपार्जन होगा तो वही पुण्य उत्तम देव गति में ले जाने का कारण बन जाता है और वहाँ के अनेक इन्द्रियजन्य सुखों को मनमाना भोगकर अंत में कर्म भूमि में आकर उत्कृष्ट मनुष्यभव प्राप्त करता है और पूर्वजन्म में उपार्जन किए हुए पुण्यों को अनिच्छा पूर्वक भोगकर अन्त में संसार, शरीर और भोग से विरक्त होता है और अनेक प्रकार के भोगो को तृणवत् त्याग करके जैनेन्द्र दीक्षा अर्थात् जिनलिंग धारण कर घोर तपस्या करता है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करने के लिये मनुष्य, स्त्री, क्रूर पशु आदि अनेक जीवों के द्वारा होने वाले परीषह को सम्यक्त्व भावना से समभाव से सहन करके क्षणभर में ही मोक्षलक्ष्मी का अधिपति बन जाता है। यह पुण्य सम्यग्दृष्टि के लिये उपकारी और हितकर है, परन्तु मिथ्यादृष्टि के लिए यह पुण्य पाप बंध का कारण हैं क्योंकि ज्ञानी का पुण्य बंध का कारण नहीं है। अगर गृहस्थ अपनी षडावश्यक क्रिया अर्थात दान पूजादि को किसी सांसारिक पंचेन्द्रिय विषय सुख की वासना लेकर करता है तो उनके द्वारा किये जाने वाला वह पुण्य कर्म इस लोक और परलोक के लिये पाप का ही कारण होता है। अगर मुनि इस संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेकर अत्यन्त कठिन तपस्या तथा काय क्लेश उपवासादि के साथ दुर्धर तप भी करे, अगर उसके मन में इह-परलोक सम्बन्धी वासना रहे तो वह भी संसारी होकर अनेक प्रकार के दु:ख सहता हुए परिभ्रमण करता है ऐसा समझना चाहिए।

हे आत्मन् ! तू आत्मज्ञान शून्य होकर पंचेन्द्रिय विषय भोग जन्य इष्ट वस्तु में निदान करके किस-किस योनि में नहीं गया, कौन सा कष्ट नहीं भोगा अर्थात् सभी योनियों में कष्ट भोगा। तेरे कष्ट के लिये बाह्य पदार्थ का ममत्व ही कारण है। तूने बहिरात्मा बनकर इस संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक कष्ट उठाये हैं। इसलिए ग्रंथकार कहते हैं कि हे निर्बुद्धिआत्मन्! अब तू वाह्य बुद्धि छोड़कर अन्तरगं में विज्ञान निर्मल रूप आत्मानन्द निजरूप में प्रवेश कर।

पद्मनन्दी आचार्य ने भी कहा है कि–

भवरिपुरिह तावद्दुःखदो यावदात्मन्।
तव विनिहित धामा कर्म संश्लेष दोषः॥
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ।
झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि॥140॥

हे आत्मन्! यहाँ संसार रूपी शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञानरूपी ज्योति को नष्ट करने वाला कर्म बंध रूप दोष स्थान प्राप्त किये है। वह कर्म बंध रूप दोष निश्चय से राग और द्वेष के निमित्त से होता है। इसलिए मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर तू सबसे प्रथम शीघ्रता से यत्न पूर्वक उन दोषों को छोड़ दे। इस लोक-परलोक के सम्बन्धी तेरे कोई नहीं है।

लोकस्य त्वं न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जितं भुज्यते कः।
संबंधस्तेन सार्धं तदसति सति वा तत्र कौ रोषतोषौ॥
कायेऽप्येव जड़त्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वंसभावा।
देवं निश्चित्य हंस स्वबलमनुसर स्थायि मा पय पार्श्वम्॥

हे योगी! न तो लोक में कोई तुम्हारा है और न ही कोई तुम्हारा हो सकता है। यहाँ तुमने जो कुछ कमाया है वही भोगना पड़ता है। तुम्हारा इस लोक के साथ क्या सम्बन्ध है? कुछ भी नहीं हैं फिर हे योगी! इस लोक और परलोक सम्बन्धी वस्तु तुझसे अलग होने से विषाद क्यों करता है? और वे सर्व पदार्थ विद्यमान होने में हर्ष क्यों मानता है? इस तरह हर्ष और विषाद करना यह तेरी मूर्खता नहीं है तो और क्या है? इसलिए हे योगी! इस तरह शरीर या शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय विषय वासनाओं में हर्ष विषाद नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सभी ज्ञानदर्शनमय चैतन्य आत्मा से भिन्न है और आत्मा से भिन्न जितने भी पर पदार्थ हैं वे चेतना रहित जड़ पदार्थ हैं। इसलिए इस शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय भोग जनित विषय भोग में तुझे रागद्वेष रखना उचित नहीं है क्योंकि वे नाशवान हैं। इस प्रकार तू अपने अन्दर ठीक समझकर निश्चय करके तू अपनी स्थिर अदम्यशक्ति का अनुसरण कर। आत्मा के समीपवर्ती लोक तथा लोक सम्बन्धी वस्तुओं को स्थायी मत समझ।

क्षणिक सुख से शान्ति नहीं मिलती।

हे आत्मन्! क्षण-क्षण में होने वाले दु:ख की स्थानभूत अन्य नरक तिर्यञ्च और मनुष्य गति को दूर रहे किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अणिमा, महिमादि रूप क्षणिक लक्ष्मी से रमणीय देवगति में भी तुझे शान्ति नहीं मिली क्योंकि वहाँ से भी तू मृत्यु रूपी पिशाच के द्वारा जबर्दस्ती नीचे गिराया गया है। इसलिए हे आत्मन्! तू प्रीतिदिन उस पद का ही अर्थात् मोक्ष पद का ही प्रयत्न कर।

किमालकोलाहलैरमलबोधसंपन्निधेः।
समस्ति यदि कौतुकं किल तवात्मनो दर्शने।
निरुद्धसकलेन्द्रियो रहसि मुक्तसंगग्रहः
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु॥144॥

हे जीव! तेरे लिए यदि निर्मल ज्ञान रूप सम्पत्ति के आश्रयभूत आत्मा के दर्शन में कौतूहल है तो व्यर्थ के कोलाहल से क्या? अपनी समस्त इन्द्रियों का निरोध करके तू परिग्रह पिशाच को छोड़ दे। इससे स्थिर चित्त होकर तू कुछ दिन एकान्त में आत्मा का अवलोकन कर सकेगा। यहाँ जीव अपने चित्त से कुछ प्रश्न करता है और तदनुसार चित्त उसका उत्तर देता है। हे चित्त! ऐसा सम्बोधन करने पर चित्त कहता है कि हे जीव! क्या है? इस पर जीव उससे पूछता है कि तुम कैसे स्थित हो? मैं चिन्ता में स्थित रहता हूँ? यह चिन्ता किससे उत्पन्न हुई? वह रागद्वेष के वश से उत्पन्न हुई। उन रागद्वेष का परिचय तेरे किस कारण से हुआ? उनके साथ मेरा परिचय इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के समागम से हुआ। अन्त में जीव कहता है कि हे चित! यदि ऐसा है तो हम दोनों ही नरक को प्राप्त करने वाले हैं। वह यदि तुझे अभीष्ट नहीं है तो इस समस्त ही इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को शीघ्रता से छोड़ दे। जिस भगवान् आत्मा के केवल स्मरण मात्र से भी ज्ञानरूपी तेज प्रकट होता है, अज्ञानरूप अन्धकार का नाश होता है, तथा कृतकृत्यता अकस्मात् ही आनन्दपूर्वक अपने मन में प्रकट हो जाती है, वह भगवान् आत्मा इसी शरीर

के भीतर विराजमान है। उसका शीघ्रता से अन्वेषण करो। दूसरी जगह (बाह्य) पदार्थों की ओर क्यों दौड़ रहे हो? हे आत्मन्! यहाँ जो जीव और अजीवरूप विचित्र वस्तुएँ, अनेक प्रकार के आकार, ऋद्धियां एवं रूप आदि रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले हैं उनको तूने मोह के वश होकर देखा है, सुना है तथा सेवन भी किया है। इसीलिए वे तेरे लिए चिर काल से दृढ़ बंधन बने हुए हैं, जिससे कि तुझे दु:ख भोगना पड़ रहा है। इस सबको जानते हुए भी तेरी वह बुद्धि आज भी क्यों बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ रही है? मैं बाह्य मल (रज वीर्य) से उत्पन्न हुए इस शरीर से, अनेक प्रकार के विकल्पों के समुदाय से तथा शब्दादिक से भी भिन्न हूँ। स्वभाव से मैं चैतन्यरूप अद्वितीय शरीर से सम्पन्न, कर्ममल से रहित, शांत एवं सदा आनन्द का उपभोक्ता हूँ। इस प्रकार के श्रद्धान से जिसका चित्त स्थिरता को प्राप्त हो गया है तथा जो समताभाव को धारण करके आरम्भ से रहित हो चुका है उसे संसार से क्या भय है? कुछ भी नहीं और यदि उपर्युक्त दृढ़ श्रद्धान के होते हुए भी संसार से भय है तो फिर और कहाँ विश्वास किया जा सकता है? कहीं नहीं। हे आत्मन्! तुझे लोक से क्या प्रयोजन है, आश्रय से क्या प्रयोजन है, द्रव्य से क्या प्रयोजन है, शरीर से क्या प्रयोजन है, प्राणों से क्या प्रयोजन है, वचनों से क्या प्रयोजन है, इन्द्रियों से क्या प्रयोजन है, क्योंकि वे सब पुद्गल की पर्यायें हैं और इसीलिए तुझसे भिन्न हैं। तू प्रमाद को प्राप्त होकर व्यर्थ ही इन विकल्पों के द्वारा क्यों अतिशय बन्धन का आश्रय करता है? जिन जीवों ने निरन्तर भोगों का अनूभव किया है उनका उन भोगों से उत्पन्न हुआ सुख अवास्तविक है, किन्तु आत्मा से उत्पन्न सुख अपूर्व और समीचीन है, ऐसा जिसके हृदय में दृढ़ विश्वास हो गया है, वह तत्वज्ञ है। यह प्राणी प्रति समय क्षुधा तृषा आदि के द्वारा अत्यन्त तीव्र दु:ख से व्याकुल होकर उनको शान्त करने के लिए अन्न एवं पानी आदि का आश्रय लेता है और उसे भी भ्रमवश सुख मानता है। परन्तु वास्तव में वह दु:ख ही है। यह सुख की कल्पना इस प्रकार है जैसे कि खुजली के रोग में अग्नि के सेकने से होने वाला सुख।

हे जीव! तूने विषय सुख के पीछे अपने आत्म स्वरूप का ख्याल न

करके अनन्त काल तक दु:ख भोगा है। कहा भी है कि–

हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि,
नो संगतं दिनविकाशि सरोजमित्थम्।
नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव,
प्राय: कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेक:॥

अर्थ–यह सरोज जल से पैदा होकर भी उसमें लिप्त नहीं हुआ, सदा उस जल से जुदा ही रहा। इससे यह जान पड़ता है कि यह कमल अति कठोर हृदय है इसीलिए शायद हंसों ने इसको खाया नहीं। केवल दिन में ही खिला रहकर रात को मुंद जाता है, सदा विकसित भी नहीं रह पाता। अरे भौंरा! इस कमल के ऐसे स्वभाव की तरफ तूने कुछ ध्यान नहीं दिया। स्वभाव का विचार न करके उसमें फँसा, इसीलिए उसी में प्राणान्त हुआ।

विषयों का भी ठीक यही स्वभाव है। पुण्यकर्म का उदय जब तक रहता है तभी तक विषय भोग टिकते हैं, नहीं तो रात को कमल की तरह पुण्य कर्म के खत्म होते ही वे विलीन हो जाते हैं। आत्मा में उपज कर भी आत्मीय शुद्ध भावों में सदा ही से विषय जुदा रहते है अर्थात् जहाँ आत्मीय शुद्ध भावों का स्वरूप प्रकाशमान रहता है वहाँ इन विषयों की गति नहीं होने पाती। इसीलिए शायद इन्हें तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुरुषों ने कठोर हृदय दु:खदायक समझ कर भोगने से छोड़ दिया। ऐसे नि:स्नेह नि:सार क्षणभंगुर इन विषयों में जो जीव फँसते हैं वे वृथा ही मरण पाते हैं। पर व्यसनी जनों को व्यसन के सामने अपने हिताहित का भान प्राय: कहाँ रहता है? नहीं, इसीलिए तो यह कहावत है कि व्यसनी जनों को अपने हिताहित का विवेक प्राय: नहीं रहता। अरे जीव! तू ऐसे निरर्थक उल्टे दु:खदायक विषयों में भौंरे की तरह फँसकर प्राण क्यों गंवाता है। ये विषय भोगते समय तो ठीक कमल की तरह कोमल लगते हैं। पर कमल जिस प्रकार फंसे हुए भौंरे को आखिर मार कर छोड़ता है, उसी प्रकार ये विषय अपने में फँसे हुए जीवों को अनेक बार प्राणान्त दु:ख के देने वाले हैं इसलिए हंस जैसे सर्वश्रेष्ठ पुरुषों ने इन्हें दूर से ही छोड़ रखा है।

अथवा ये विषय भोग उस पत्थर के समान हैं जिस पर पानी के संसर्ग

से काई लग जाती है। छूने से वह काई अत्यन्त कोमल जान पड़ती है पर पैर रखते ही मनुष्य गिरता है कि सारे अंजर पंजर टूट जाते हैं। व्यसन भी प्रथम समय तो अतीव आनन्दकारी जान पड़ते हैं, पर ज्यों ही प्राणी उसमें फंसा कि आधिव्याधि, निर्धनता आदि अनेक दु:खमय कीचड़ में गिर पड़ता है कि जहाँ से निकलना तथा सम्भलना कठिन है। इस जन्म में तो ऐसे दु:ख भोगने ही पड़ते हैं किन्तु पाप संचित करके जब परभव पहुँचता है तो और भी अधिक दु:खों की खान में पड़ता है। इसलिए विषयों से प्रीति करना अच्छा नहीं है।

प्रेक्ष्यैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्या: खलु धीमताम्॥

प्रथम तो विचार होना ही कठिन है, फिर परलोक के सुधार की तरफ विचार जाना और भी कठिन है। भाग्यवश यदि उस तरफ विचार लग भी गया तो भी करने में मनुष्य आलसी बने रहते हैं। विचार तो ढेरों करें पर जिन्हें अपने कर्तव्य की कुछ परवाह ही नहीं है ऐसे जीवों को देखकर संत पुरुषों को बड़ा खेद होता है क्योंकि वे समर्थ होकर भी हाथ से मौका जाने देते हैं।

संसार में एकेन्द्रियादि पशु नरकादि ऐसे पर्याय बहुत हैं, जिनमें पड़े हुए जीवों को सच्चा कल्याण मार्ग सूझता ही नहीं है। कहीं-कहीं कुछ सूझता भी है तो बाकी साधन नहीं मिलते जिससे कि वे कुछ कर सकें। एक मात्र मनुष्य पर्याय ही ऐसा है कि जिसमें विवेक, कुल, संगति, संत उपदेश आदि कल्याण साधने की पूरी सामग्री मिल सकती है पर उसमें भी सबों को वह सारा योग नहीं मिलता है। किन्तु जो सर्व प्रकार इस मनुष्य पर्याय में समय, साधना पा लेते हैं और अनुभव तथा विवेक भी जिन्हें परलोक का हो जाता है वे जबकि सारा जन्म आज कल करते ही निकाल देते हैं तो उन पर साधु सन्तों को बड़ा पश्चाताप होता है क्योंकि जो समर्थ और धर्म धारण के अधिकारी हो चुके हैं वे यदि धर्म ध ारण नहीं करते तो कौन करेगा? इसलिए जिन्हें परलोक के सुधार का विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ है उन्हें चाहिए कि वे धर्म धारण तथा सेवन करने में विलम्ब न करें। इसलिए हे जीव! पर दृष्टि को छोड़ कर अपने स्वयं शुद्धनित्य निरंजन अनादिकाल से शरीर के पड़ौस में पड़े हुए आत्म तत्व की आराधना कर।

यथार्थ स्वरूप के ऊपर श्रद्धान रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि है। ऐसा आगे श्लोक में कहते हैं।

सदृष्टिय मनदेकं, स्वद्रव्यदोकल्लदेरगलरेय दमोघं।
सदृष्टि परदोकेरगं, सदृष्टिगे बाह्य चिंते पावदु? पेकिं॥50॥

अर्थ—यथार्थ तत्व स्वरूप में जिनका विश्वास है, उनको ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह अपने मन के अनुकूल निजपदार्थ में अपने को साथी रूप समझकर सदा उसी में लीन रहता है अर्थात् अपने निजात्म तत्व के बिना अन्य किसी पर वस्तु में कभी भी अपने उपयोग को नहीं लगाता है। सम्यग्दृष्टि पर वस्तुओं में आसक्त नहीं होता है। फिर सम्यग्दृष्टि को बाह्य चिन्ता कहाँ से हो सकती है? नहीं हो सकती है। सम्यग्दृष्टि को हमेशा अध्यात्म चिंता रहती है बाह्य चिंता नहीं रहती है। ऐसा ग्रंथकार ने कहा है॥50॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि जिसने यथार्थ जिन स्वरूप को स्व पर ज्ञान के द्वारा ठीक समझ लिया है, सदा उसी में लीन रहता है और वस्तु के बीच रहते हुए भी अपने स्वरूप में च्युत होकर बाह्य वस्तु में रत नहीं होता है और अपने निजानन्द स्वरूप में रहता है, वही सम्यग्दृष्टि है ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है। सम्यग्दृष्टि का स्वरूप आचार्य ने इस प्रकार कहा है कि–

तत्वं प्रीति मनक्केपुट्टलदु सम्यग्दर्शनं मतमा-।
तत्वार्थगळनोलदु भेदिपुदु सम्यग्ज्ञानया बोधदिं॥
सत्वंगळ्किडदंतुटोवि नडेयल सम्यक्त्वंकु चारित्रं सुर-।
लत्वं मूरिवु मुक्तिगेंद रूपिदे! रत्नाकराधीश्वरा॥

हे रत्नाकराधीश्वर! मन में जीवादि तत्वों के प्रति प्रेम उत्पन्न होना अर्थात् श्रद्धान होना यह सम्यदर्शन है। उस तत्व के अर्थो को प्रेम से अर्थात् रूचि पूर्वक भिन्न-भिन्न रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है। उस ज्ञान से प्राणियों की अर्थात् जीवों की हिंसा न हो इस प्रकार अहिंसा पूर्वक अपने आत्मा में तथा अपनी क्रिया में रमना इसी का नाम चारित्र है। इन्हीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र ऐसे तीन रत्नत्रय को प्राप्त कर सदा उसी में लीन रहने वाले भगवान जिनेन्द्र देव उसके स्वामी हैं। उसी स्वामी ने कहा है कि:–

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:–

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये ही मोक्ष मार्ग हैं, यही मार्ग सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का मार्ग है। इसी पर रूचि रखकर जो भव्य जीव श्रद्धानपूर्वक भजता है वही सम्यग्दृष्टि है।

जैनागम में तत्व सत्ताईस प्रकार के बताये हैं। इनके ज्ञान हुए बिना स्वात्म तत्व की प्रतीति इस जीव को नहीं होती है, ऐसा कहा है–

मिगेषड्द्रव्यमनस्तिकायमेनिपैदं तत्व बेळंमनं।
बुगलोंवत्तु पदार्थ मं तिळिदाड़तन्नात्मनोमेय्यदं॥
दुगदिं बेरोड़लेन चेतन मे जीवं चेतनं ज्ञानरू।
पिडिगायेदरिदिर्द ने सुखियला! रत्नाकराधीश्वरा॥

हे रत्नाकराधीश्वर! हे रत्नत्रय के अधिपति जिनेंद्रदेव। तुमने भव्य जीवों को यह बताया है कि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छ: द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ऐसे ये पाँच अस्तिकाय हैं। जीव तत्व, अजीव तत्व, आस्रवतत्व, बंधतत्व, संवरतत्व, निर्जरातत्व, और मोक्षतत्व ऐसे ये सात तत्व हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य ये नौ पदार्थ हैं। इन नौ पदार्थो को मन: पूर्वक समझ लेना चाहिये। शरीर जड़ है और अचेतन है। जीव चेतन स्वरूप ज्ञान स्वरूप है। इस तरह ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। ऐसे जिसने इन दोनों को अपने स्वपर ज्ञान से भेद ज्ञानकर ठीक और भिन्न-भिन्न समझ लिया है, वही भेद ज्ञानी सुखी नहीं है क्या? अर्थात् वही सुखी है।

अरिविंदी क्षिसलक्कु यात्मनिरुवं देहं बोली कण्गे तां।
गुरियागं शिलेयोळ्सुवर्णमरलोळ्सोरभ्यमाक्षीरदोक्॥

नरू नेय्काष्टदोळग्निर्यिर्प तेरदिंदी मेय्ळांदिर्पनें।
दरिदभ्यासिसे कण्गुमेंदरूपिऽदै! रत्नाकराधीश्वरा॥

आत्मा चर्म चक्षुओं के गोचर न होकर अनुभव गम्य है। इसलिये ज्ञानो के लिये हमेशा स्व पर ज्ञान की आवश्यकता है। इसलिये कहा भी है कि हे रत्नत्रय के अधिपति भगवान् जिनेन्द्रदेव! आपने यह कहा है कि आत्मा की स्तुति को ज्ञान से देख सकते हैं। जैसे पत्थर में सोना, पुष्प में सुगंध, दूध में घी, काष्ठ में अग्नि है, उसी प्रकार इस सर्वांग शरीर में आत्मा भरी हुई है। ऐसे उनकी स्व पर ज्ञान के द्वारा समझकर अभ्यास करने से वह अनुभव गोचर होता है। इस प्रकार जिनेश्वर ने इस भाव को समझाया है। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग के अनुसार स्व पर ज्ञान के द्वारा निरीक्षण करने से जैसे घड़े के अन्दर आकाश भरा हुआ है तत्पश्चात् ज्ञानी जीव उसको अलग करने के लिये अभ्यास इस प्रकार करता है कि–

मत्ताकल्लने सोदिसल्कनकमं काण्वंते पालैक्रमं।
वेत्तोळिपं मथनं गेयल्धृतुमम काण्वंते काष्ठगंळं॥
ओत्तवं पोसेदग्नि काण्वतेरदिं मेय्वेरे वेरानेनु।
त्तित्तभ्यासिसेलेन्न काण्वुदरिदे ? रत्नाकराधीश्वरा॥

पुनः उसी पत्थर को ही अन्वेषण करने से जैसे सोना दीखता है, जैसे दूध को गर्म करके अच्छी तरह से उसको मंथन करने से घी निकलता है। काष्ठ को काष्ठ से रगड़ने से अग्नि प्रतीत होती है, इसी तरह शरीर से यह आत्मा भिन्न है। इस तरह भेद विज्ञान के अभ्यास से मुझको मेरे अन्दर देखने में क्या असाध्य है ? इस प्रकार भगवान वीतराग देव के इस मार्ग पर श्रद्धान् रखकर जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव रुचिपूर्वक अपने आत्मा को स्व पर ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर रत होकर देखते हैं उन्हें आत्मा का अनुभव होने में क्या देर लगती है दूध पानी के समान जीव और कर्म का संयोग है। कहा भी है कि–

संबंधो एदेसि णायव्वो खीरणीरणाएण।
एकत्तो मिलियाणं णियणियसब्भाजुत्तार्ण॥

जैसे दूध और पानी मिले हुए एकमेव हो जाते हैं। पानी दूध की सफेदी व चिकनाई में छिप जाता है। वह दूध के नाम से पुकारा जाता है तो भी दूध ने दूधपने का व पानी ने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा है। हंस दूध को पीकर पानी को छोड़ देता है। इसी तरह जीव अनादि काल से आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों के साथ मिलता बिछुड़ता हुआ चला आ रहा है तथापि जीव अपने स्वभाव को व कर्म पुद्गल अपने स्वभाव को नहीं बैठे। दोनों का अपना स्वभाव दोनों में है।

दो पदार्थों को मिला हुआ देखकर भी प्रत्येक का अपना-अपना स्वभाव जैसा का तैसा जानना ही ठीक ज्ञान है या सम्यग्ज्ञान है। आत्मा में जो उपयोग स्वभाव है वह जड़ शरीरादि में नहीं है। आत्मा ज्ञाता भी है व ज्ञेय भी है और सर्व द्रव्यज्ञाता नहीं है केवलज्ञेय हैं, आत्मा के द्वारा जानने के योग्य है।

समयसार जी में भी कहा है–

ववहारेण दु एदे जीवस्य हंवति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स॥
एहि य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओग गुणधिगो जम्हा॥

वर्णादि, रागादि, गुणस्थानादि जीव के व्यवहारनय से कहे गये हैं, निश्चयनय से इनमें कोई भी जीव के नहीं है। इनका संयोग सम्बन्ध जीव के साथ, दूध पानी के मेल के समान है। जैसे दूध पानी से भिन्न है, वैसे जीव से ये सब भिन्न हैं। जीव उनसे उपयोग गुण से अधिक है। जीव शुद्ध उपयोग का धारी है।

भेदविज्ञान का माहात्म्य।

जइ कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरभरुणजोएण॥

भेद विज्ञान एक कला है या चतुराई है जिससे संयोग प्राप्त पदार्थ मिले हुए रहते भी भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। दूध व पानी मिले रहने पर भी उनमें भिन्नता झलकती है। सुवर्ण चांदी में मिले होने पर भी सर्राफ को सुवर्ण चांदी से भिन्न दिखाई देता है।

धान्य के भीतर किसान को चावल और छिलका अलग-अलग दिखाई पड़ता है। तेली को तिलों के भीतर तेल और भूसी अलग दीखती है सागभाजी में चतुर पुरुष को लवण व भाजी का भिन्न-भिन्न स्वाद आ जाता है वैद्य को एक गोली में भिन्न-भिन्न औषधियों का पता लग जाता है।

इसी तरह तत्वज्ञानी जीव जो छहों द्रवों के गुण व पर्यायों को भिन्न-भिन्न समझता है, जीव और पुद्गलों में वैभाविक शक्ति के कारण परस्पर संयोग होते हुए जो नाना प्रकार जीव समास, मार्गणा, व गुणस्थान के भेद व्यवहार से जीव में कहे जाते हैं उन सब के भीतर अपनी प्रज्ञा शक्ति से जीव के स्वभाव को अजीव के स्वभाव से भिन्न देखता है। उस भेद विज्ञानी महात्मा को एक वृक्ष, एक लट, एक चींटी, एक मक्खी, एक मृग, एक स्त्री, एक पुरुष, रोगी निरोगी, सुन्दर असुन्दर क्रोधी मानी, मायावी, लोभी कामी प्राणियों के भीतर आत्मा अपने मूल स्वभाव में पर से भिन्न सिद्ध के समान शुद्ध दिखता है और पुद्गल भिन्न दिखता है।

संसारी आत्माओं में व अनन्त सिद्धात्माओं में भेद ज्ञान एक समान पुद्गल के स्वभाव को देख लेता है। इसी भेदविज्ञान से ज्ञानी मानव अपनी आत्मा को औदारिक तैजस कर्माण शरीरों से व सर्व रागादि विभावों से भिन्न देखता है। व्यवहार में वह कह कहता है कि मैं मानव हूँ परन्तु वह जानता है कि यह कहना मानव गति व आयुकर्म के उदय से प्राप्त मानव की अवस्था की अपेक्षा से है। मैं तो निश्चय से पवित्र आत्मा हूँ। मनुष्य की देह छूट जायेगी, आत्मा बनी रहेगी। पुराने कर्म छूटते हैं, नये कर्म बँधते हैं, आत्मा वही रहती है। किसी आकाश में धुँआ छाया हुआ है, नया आता है, पुराना जाता है, आकाश के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह संयोग सम्बन्ध होने पर भी आकाश अमूर्तिक भिन्न है। धुँआ मूर्तिक भिन्न है। ऐसे ही कर्मों के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध होने पर भी जीव अमूर्तिक भिन्न है, मूर्तिक कर्म पुद्गल भिन्न हैं। इसी को भेद विज्ञान या प्रज्ञा कहते हैं।

आगे योगी के लिए कहते हैं कि हे योगी ! तू अपने अन्दर ही अपने को जान कर अपने को आप ही प्राप्त होगा—

अरिबुदुदरिवरिये पडुवुटु पेरतल्ते दरिदु भेदषटकारकर्दि।
नेरेदात्म ननाराधिप तेरनं बल्लवने योगि निजगुण निरता।।51।।

अर्थ—अपनी आत्मा के गुणों में जो रुचिपूर्वक रत हो जाता है वही अपनी आत्मा को ठीक जान सकता है। जो अपने अन्दर जानने का ज्ञान, जान पाना, जाना गया ज्ञेय है ये सभी अलग नहीं है। जानने वाला मैं हूँ और अपने आपको जानता हूँ और ज्ञेयाकार भी मैं हूँ, यह मुझसे भिन्न नहीं है। कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान अधिकरण विभिक्ति तक कारकों के छह भेद होते हैं। इन छह विभक्तियों के द्वारा आत्मा को जानकर आराधना करने वाला ही अपने आत्म स्वरूप को जानने वाला योगी है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि जो ज्ञानी अपने आत्मा गुणों में रत होकर अपने को जानता है, वह षट कारक रूप आप ही होता है। जैसे अपने को अपने द्वारा अपने लिये अपने का, अपने में इस तरह सत्स्वभाव की दृष्टि से अपने अन्दर देखा जाये तो आप ही षट् कारक रूप है। इस प्रकार ज्ञानी जीव अपने अन्दर रत हो करके निश्चयनय से अपने अन्दर मिल जाता है और आप ही षट् कारक रूप है। जब यह आत्मा पर वस्तु में राग करती है तो 'मैंने किया' इस प्रकार वह उसका कर्ता बन जाता है। ये अज्ञान भाव है। मैंने दूसरे को बाँधा, ऐसा कहना यह राग परिणति है। विकार भाव से दूसरे को बांधने की जो भावना करता है, यह अज्ञान भाव है। वह व्यवहार दृष्टि से पर वस्तु का कर्ता बन जाता है। अपने लिये यह सम्प्रदान है। परद्रव्य की इच्छा करना तथा माँगना यह भी अज्ञान भाव है। मेरे द्वारा किया गया, मैंने लिखा, मैं लिख रहा हूँ परन्तु यहाँ करण जो लिखने वाले की कलम इसके अन्दर आत्म बुद्धि करता है यह भी अज्ञान भाव है। अधिकरण जिस आधार पर कर्म हो उसे अधिकरण कहते हैं। इस प्रकार जो है व्यवहार है परन्तु आत्मा उसका कर्ता धर्ता नहीं है, केवल राग परिणति करने के कारण यह आत्मा इस प्रकार अपने को कर्ता, कर्म मानता है। परन्तु किसी दूसरे का

षट् कारक नहीं है यह आत्मा खुद ही षट् कारक है। प्रवचन सार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है कि–

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो॥16॥

शुद्धोपयोग का फल जो केवलज्ञानमय शुद्धात्म का लाभ है वह जिस समय इस आत्मा को होता है, तब कर्ता कर्मादि छह कारक रूप आप ही होता हुआ स्वाधीन होता है, और किसी दूसरे कारक को नहीं चाहता है। जैसे शुद्धोपयोग के प्रभाव से केवल ज्ञानादि गुणों को प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वही आत्मा स्वयंभू नाम वाला भी होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तात्पर्य यह है, कि जो आत्मा केवल ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों को प्राप्त हुआ हो, उसी का नाम स्वयंभू है क्योंकि व्याकरण की व्युत्पत्ति में भी जो 'स्वयं' अर्थात् आप ही से अर्थात् दूसरे द्रव्य की सहायता बिना ही ''भवति'' अर्थात् अपने स्वरूप होवे, इस कारण इसका नाम स्वयंभू कहा गया है। यह आत्मा अपने स्वरूप की प्राप्ति के समय दूसरे कारक की इच्छा नहीं करता है। आप ही छह कारकरूप होकर अपनी सिद्धि करता है, क्योंकि आत्मा में अनन्त शक्ति है। कैसा है वह? प्राप्त किया है, घातिया कर्मों के नाश से अनन्त ज्ञानादि शक्ति रूप अपना स्वभाव जिसने। फिर कैसा है? तीनकाल में रहने वाले सब पदार्थों को जानने वाला है? फिर क्या है? स्वयंभू आत्मा तीनों भुवनों के स्वामी इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती द्वारा पूजित है। फिर क्या है? अपने आप ही पर की सहायता के बिना अपने शुद्धोपयोग के बल से अनादि अविद्या से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के बन्धों को तोड़कर निश्चय से इस पदवी को प्राप्त हुआ है, अर्थात् सकल सुर, असुर, मनुष्यों के स्वामियों से पूज्य सर्वत्र वीतराग तीन लोक का स्वामी शुद्ध अपने स्वयंभूपद को प्राप्त हुआ है।

अब षट् कारण दिखाते हैं–कर्ता 1 कर्म 2 करण 3 संप्रदान 4 अपादान 5 अधिकरण 6 ये छह कारणों के नाम हैं, और ये सब दो दो तरह के हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। उनमें जिस जगह पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि की जाय, वहाँ व्यवहार षट्कारक होता है, और जिस जगह अपने में ही

अपने को उपादान मानकर अपने कार्य की सिद्धि की जावे, वहाँ निश्चय षट्कारक है। व्यवहार छह कारक उपचार असद्भूतनयकर किये जाते हैं। अपने को आप ही करता है, इस कारण निश्चय कारक सत्य है। जो स्वाधीन होकर करे वह कर्ता, जो कार्य किया जावे वह कर्म, जिसके द्वारा किया जावे वह करण, जिसके लिये किया जावे वह संप्रदान, जो एक अवस्था को छोड़ दूसरी अवस्था रूप होवे वह अपादान, जिसके आधारित कर्म होवे वह अधिकरण कहा जाता है। अब दोनों कारकों का दृष्टांत देते हैं। उनमें प्रथम व्यवहार कारक इस तरह है—जैसे कुंभकार (कुम्हार) कर्ता है, घड़ा रूप कार्य को करता है, इससे घट कर्म है। दण्ड चक्र चीवर (डोरा) आदि द्वारा यह घट कर्म सिद्ध होता है, इसलिए दण्ड आदिक करण कारक है। जल वगैरह के भरने के लिए घट किया जाता है, इस लिए संप्रदान कारक है। मिट्टी की पिण्ड रूपादि अवस्था को छोड़ घट अवस्था को प्राप्त होना अपादान कारक है। भूमि के आधार से घटकर्म किया जाता है, बनाया जाता है, इसलिए भूमि अधिकरण कारक समझना चाहिए इस प्रकार ये व्यवहार कारक हैं क्योंकि इनमें कर्ता दूसरा है, कर्म अन्य है, करण अन्य ही द्रव्य है, दूसरे ही को देना दूसरे से करना। आधार अलग ही है। निश्चय छह कारक अपने आप ही में होते हैं, जैसे—मृत्तिका द्रव्य (मट्टी) कर्ता है, अपने घट परिणाम कर्म को करता है, इसलिए आप ही कर्म है, आप ही अपने घट परिणाम को सिद्ध करता है, इसलिए स्वयं ही करण है। अपने घट परिणाम को करके अपने को ही सौंप देता है, इस कारण आप ही संप्रदान है। अपनी मृत्पिंड अवस्था को छोड़ अपनी घट अवस्था को करता है, इसलिए आप ही अपादान है। अपने में ही अपने घट परिणाम को करता है, इसीलिए आप ही अधिकरण है। इस तरह ये निश्चय षट्कारक हैं, क्योंकि किसी भी दूसरे द्रव्य की सहायता नहीं हैं, इस कारण अपने आपमें ही ये निश्चयकारक साधे जाते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा संसार अवस्था में जब शुद्धोपयोगभावरूप परिणाम करता है, उस समय किसी दूसरे की सहायता (मदद) न लेकर अपनी ही अनन्त शुद्धचैतन्य शक्ति संचय कर आपही छह कारक रूप होके केवल ज्ञान को पाता है, इसी अवस्था में स्वयंभू कहा जाता है। शुद्ध अनन्तशक्ति तथा

ज्ञायक स्वभाव होने से अपने आधीन होता हुआ वह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को करता है, इसलिए आप ही कर्ता है, और जिस शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को करता है, वह आत्मा का कर्म है, सो वह कर्म आप ही है, क्योंकि शुद्ध अनन्त शक्ति, ज्ञायक स्वभाव से अपने आपको ही प्राप्त होती है, वहाँ यह आत्मा ही कर्म है। वह आत्मा अपने शुद्ध आत्मीय परिणामों द्वारा स्वरूप का साधन करता है, वहाँ पर अपने अनन्त ज्ञान द्वारा करणकारक होता है,। यह आत्मा अपने शुद्ध परिणामों को करती हुई अपने को ही देती है, उस अवस्था में शुद्ध अनन्तशक्ति ज्ञायक स्वभाव कर्म कर आपको ही स्वीकार करती हुई संप्रदान कारक होती है,। वह आत्मा जब शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती है, उस समय इस आत्मा के सांसारिक अशुद्ध–क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञान का नाश होता है, तब अपादानकारक होता है। यह आत्मा जब अपने शुद्ध अनन्त शक्ति ज्ञायक स्वभाव की आधार है, उस दशा में अधिकरण कारक को स्वीकार करती है। इस प्रकार यह आत्मा आप ही षट्कारक रूप होकर शुद्ध स्वरूप को प्रगट करता है, तभी स्वयंभू पदवी को पाता है अथवा अनादि काल से बहुत मजबूत बंधे हुए घातिया कर्मों को (ज्ञानावरण 1 दर्शनावरण 2 मोहनीय 3 अन्तराय 4) नाश करके आप ही प्रगट हुई है, दूसरे की सहायता कुछ भी नहीं ली, इस कारण स्वयंभू कहा जाता हे,। यहाँ पर कोई प्रश्न करे, कि पर की सहायता से स्वरूप की प्राप्ति क्यों नहीं होती? उसका समाधान-कि जो यह आत्मा पराधीन होवे, तो आकुलता सहित हो जाय, और जिस जगह आकुलता है, वहाँ स्वरूप की प्राप्ति नहीं। इस कारण पर की सहायता बिना ही आत्मा निराकुल होता है, इसी दशा में अपनी सहायता से आप को पाता है। इसलिए निश्चय करके आप ही षट्कारक है। जो अपनी अनन्तशक्ति रूप संपदा से परिपूर्ण है, तो वह दूसरे की इच्छा क्यों रक्खे? अर्थात् कभी नहीं।

मूर्ख (मूढ़ अज्ञानी) जीव पर पदार्थ में निज पदार्थ को ढूँढ़ता है।

परतत्वद भावनेपोलु परमार्थ मुक्तियेंदु नंबुवोडदरिं।
स्थिरमागदु सम्यक्त्वं परमार्थ ताने तन्नोळ् निले मुक्तं॥52॥

अर्थ—पर तत्व भावना से मुक्ति होगी, मूर्ख बहिरात्मा जीव ऐसा विश्वास करे उसी को मोक्ष मार्ग तथा उसी को सुख का कारण मानने की भावना करता है। इस प्रकार मिथ्या भावना से सम्यक्त्व स्थिर होता है, उसी के अन्दर तत्व वस्तु की प्राप्ति होती है, पर वस्तु ही मोक्ष साधन है, ऐसी कपोल कल्पित जो मिथ्या भावना करता है, उससे कभी भी सम्यक्त्व स्थिर नहीं रह सकता है। यदि सम्पूर्ण पर पदार्थ को हटा करके अन्दर ही लीन होकर अपने आपको देखेगा निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होगी ॥52॥

विवेचन—ग्रंथकार इस श्लोक में कहते हैं कि अज्ञानी जीव पर वस्तु के अन्दर ही सम्यक्त्व की स्थिरता होती है ऐसी कल्पना करता है। यह जीव अनादि काल से मिथ्या मार्ग में परिभ्रमण करता आया है। जहाँ अपनी चीज नहीं है वहाँ अपनी वस्तु की प्राप्ति नहीं है, ऐसी वस्तु में अपनी वस्तु के अन्वेषण करने का प्रयत्न करता है। वह धतूरा बो करके नारियल की इच्छा करता है। बबूल के झाड़ बो करके आम की इच्छा करता है,। घास बो करके धान की इच्छा करता है। चोर के अन्दर सत्यता की खोज करता है। दुष्ट स्त्रियों को पतिव्रता समझता है,। कोयले के अन्दर, सफेदी की इच्छा करता है फूँस के अन्दर धान के कण की इच्छा करता है, गज्जे के सिर पर बाल को देखता है। इस तरह से पाप मार्ग में अर्थात् नित्य निरंजन निर्विकार से रहित रूपी पदार्थ में, आत्मा से भिन्न पर पदार्थ में अपने निज स्वभाव को ढूढ़ता है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न पर पदार्थ में अपने स्वरूप को ढूढ़ने वाले मूर्ख ही हैं। इसलिए आचार्य यह कहते हैं कि सम्यक्त्व के विरुद्ध जितना भी पाप मार्ग है, उससे सम्यक्त्व की स्थिरता नहीं होती इसलिए सम्यक्त्व का घात करने वाले जितने भी पर पदार्थ हैं, जितने कुधर्म हैं, जितने भी कुगुरु कुदेव कुशास्त्र है उनसे कभी भी सम्यक्त्व की वृद्धि होकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

मूर्ख लोग धर्म के बारे में अनेक प्रकार के मिथ्या मार्ग का अवलम्बन कर उससे सम्यक्त्व की सिद्धि करना चाहते हैं परन्तु जैसे कोयले को पानी से धोकर सफेद करना चाहता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व की आराधना से सम्यक्त्व की प्राप्ति करना चाहते हैं। इसके बारे में स्वामी कीर्तिकेयानुपेक्षा में कहा भी

है कि जब तक सच्चा देव, सच्चा गुरु, सच्चा शास्त्र को प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान से जानकर उस पर श्रद्धान न हो ज्ञान न हो अथवा सच्चा चारित्र उस पर न हो तब तक मुक्ति का मार्ग उनके लिए अत्यन्त दुर्लभ है। सबसे पहले सर्वज्ञ के अर्थ का जान लेना अत्यन्त जरूरी है। कहा भी है कि–

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो॥302॥

सर्वज्ञ का अर्थ है सबको जानने वाला और सबसे मतलब है–समस्त लोक और अलोक में वर्तमान सब द्रव्यों को और उनकी सब पर्यायों को जानना। जो ऐसा जानता है वही सर्वज्ञ है। और वही वास्तव में देव है क्योंकि वह अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमानन्द में क्रीड़ा करता है। कहा भी है–जो अनेक प्रकार के समस्त चराचर द्रव्यों को तथा उनके सब गुणों को और उनके भूत, भविष्यत और वर्तमान सब पर्यायों को एक साथ प्रति समय पूरी तरह से जानता है उसे सर्वज्ञ कहते हैं। उस सर्वज्ञ जिनेश्वर को नमस्कार हो। किन्तु इस तरह से तो श्रुतज्ञानी को भी सर्वज्ञ कहा जा सकेगा, क्योंकि वह भी आगम के द्वारा सब पदार्थों को जानता है। इसी से श्रुतज्ञानी को केवलज्ञानी के तुल्य बतलाया है। इस आपति को दूर करने के लिए ही जानने के पहले प्रत्यक्ष विशेषण रखा गया है। श्रुतज्ञानी सबको परोक्ष रूप से जानता है इसलिए उसे सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। जो समस्त लोक लोक को हथेली पर रखी हुई मणि की तरह प्रत्यक्ष जानते है वही सर्वज्ञ भगवान हैं।

आगे सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि–

जदि ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अहिंदिय अत्थं।
इन्द्रिय-णाणं ण मुणदि थूलंपि असेस-पज्जायं॥303॥

यदि सर्वज्ञ न होता तो अतीन्द्रिय पदार्थ को कौन जानता? इन्द्रियज्ञान तो सब पर्यायों को भी नहीं जानता है।

चार्वाक और मीमांसक सर्वज्ञ को नहीं मानते चार्वाक तो एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं है वह कोई वस्तु ही नहीं, ऐसा उसका मत है। सर्वज्ञ भी किसी इन्द्रिय से गोचर नहीं होता अत: वह नहीं है यह चार्वाक का कहना है। मीमांसक छह प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थोपपत्ति और अभाव। इनमें से शुरू के पांच प्रमाणवस्तु के सद्भाव को विषय करते हैं। जो इन पांच प्रमाणों का विषय नहीं है वह कोई वस्तु नहीं है। सर्वज्ञ भी पाँचों प्रमाणों का विषय नहीं है अत: सर्वज्ञ नहीं है ऐसा मीमांसक का मत है। आचार्य कहते हैं कि जगत में ऐसे बहुत से पदार्थ है जो इन्द्रियगम्य नहीं हैं। जैसे सूक्ष्म पदार्थ परमाणु, अन्तरित पदार्थ पूर्वकाल में हो गये राम रावण आदि और दूरवर्ती पदार्थ सुमेरु वगैरह। ये पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा नहीं देखे जा सकते। यदि कोई सर्वज्ञ न होता तो इन अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व हमें कैसे ज्ञात होता। इसी से समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में सर्वज्ञ की सिद्धि करते हुए कहा है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि उन्हें हम अनुमान से जान सकते हैं। जो वस्तु अनुमान से जानी जा सकती है वह किसी से प्रत्यक्ष भी होती है जैसे आग। शायद कोई कहे कि इन पदार्थों का ज्ञान तो इन्द्रिय से हो सकता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियां तो सम्बद्ध, वर्तमान और स्थूल पदार्थों को ही जानने में समर्थ हैं। अत: वे स्थूल की भी भूत भविष्यत सब पर्यायों को नहीं जानती हैं। तब अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जान सकती हैं।

सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करके आचार्य कुमार स्वामि कीर्ति केय सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारह भेओ दह-भेआ भासिओ बिदिओ ॥304॥

जो आत्मा को नरेन्द्र, सुरेन्द्र और मुनीन्द्र से वन्दनीय मुक्ति स्थान में धरता है उसे धर्म कहते हैं। अथवा जो संसारी प्राणियों को उत्तम सुख में धरता है यानी उनका उद्धार करता है वह धर्म है, अथवा जो संसार समुद्र में गिरते हुए

जीवों को उठाकर नरेन्द्र, देवेन्द्र वगैरह से पूजित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों से युक्त मोक्ष पद में धरता है उसे धर्म कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान ने उस धर्म के दो भेद किये हैं—एक परिग्रह से घिरे हुए गृहस्थी के लिए और एक परिग्रह रहित मुनियों के लिए। श्रावक धर्म बारह प्रकार का कहा गया है और मुनि धर्म दस प्रकार का है।

आगे श्रावक के बारह भेदों के बारे मं वर्णन करते हुए कहा है कि—

सम्मद्दंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं।
वय-धारी सामाइउ पव्व-वई पासुयाहारी॥305॥
राई-भोयण-विरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तो य।
कज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य॥306॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टि, मद्य आदि स्थूल दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि, व्रतधारी, सामायिकव्रती, पर्वव्रती, प्रासुकाहारी, रात्रिभोजनत्यागी, मैथुनत्यागी, आरम्भ त्यागी, परिग्रह त्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्ट आहारविरत, ये श्रावक धर्म के बारह भेद हैं।

सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष बतलाते हैं—तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन और आठ शंका आदि दोष। इन पच्चीस मलों से रहित अविरत सम्यग्दृष्टि प्रथम भेद है। मद्य, माँस, मधु, पाँच उदम्बर फल, और जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या, शिकार, परस्त्री और चोरी इन सातों व्यसनों का त्यागी शुद्ध सम्यग्दृष्टि दूसरा भेद है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालक श्रावक तीसरा भेद है। सामायिक व्रत कापालक चौथा भेद है। चारों पर्वों में प्रोषधोपवास व्रत करने वाला पांचवां भेद है। सचित जल, फल, धान्य वगैरह का त्यागी छठा भेद है। रात्रि भोजन त्याग सातवाँ भेद हे। कोई आचार्य इसके स्थान में दिवा मैथुन त्याग कहते हैं। चार प्रकार का स्त्री का त्यागी अर्थात् ब्रह्मचर्य अष्टवां भेद है। गृहस्थ के योग्य खेती व्यापार आदि आरम्भ का त्याग नौवाँ भेद है। खेत, मकान, धन, धान्य आदि दस प्रकार की परिग्रह का त्याग दसवाँ भेद है। आना, जाना, घर वगैरह बनवाना, विवाह

कराना, धन कमाना आदि आरम्भों में अनुमति न देना, ग्यारहवाँ भेद है। अपने उद्देश्य से बनाये गये आहार आदि का त्याग, बारहवाँ भेद है। ये श्रावक धर्म के बारह भेद हैं।

जो उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर रहता हैं उत्तम साधुओं की विनय करता है तथा साधर्मी जनों से अनुराग करता है वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है। वह देह में रमे हुए भी जीव को अपने ज्ञान गुण से भिन्न जानता है तथा जीव से मिले हुए भी शरीर को वस्त्र की तरह भिन्न जानता है।

जो वीतराग अर्हन्त को देव मानता है, सब जीवों पर दया को उत्कृष्ट धर्म मानता है और परिग्रह के त्यागी को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि जीव, भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, और विषाद इन अठारह दोषों से रहित भगवान् अर्हन्त देव को ही अपना परम आराध्य मानता है तथा स्थावर और त्रसजीवों की मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसा न करने को परम धर्म मानता है। कहा भी है—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं, उत्तम क्षमा आदि को धर्म कहते हैं, रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं तथा 14 प्रकार की अंतरंग परिग्रह और दस प्रकार की बहिरंग परिग्रह के त्यागी को सच्चा गुरु मानता है। इसलिए हे योगी! तू अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित अपने अन्दर अनादि काल से निर्मल अनन्त गुणों के भण्डार शुद्धात्म को प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने अन्दर ही है। अज्ञान दुर्गति के लिए कारण है और सुज्ञान मोक्ष का कारण है—

अज्ञानये दुर्गतिकर मज्ञान मे सकलदुःखदोंदावासं।
अज्ञान मनुल्दिरिं सुज्ञान दोलेसगु मुक्तिललनासक्ता॥53॥

अर्थ—मुक्ति वनिता में आसक्त होने वाला अज्ञानी जीव अज्ञान के मार्ग को छोड़कर मोक्ष लक्ष्मी को देने वाले आत्म ज्ञान में रत नहीं होता है क्योंकि अनादि काल से अज्ञान का संस्कार होने के कारण अज्ञानी जीव को

जितना भी ज्ञान का उपदेश दिया जाय या सद्गुरु का समागम हो फिर भी उसका अज्ञान दूर नहीं होता है क्योंकि उसके स्वभाव ने आज तक उसके मन के अन्दर प्रवेश नहीं किया है और ये ही अज्ञान दुर्गति को उत्पन्न करने वाला होता है। अज्ञान ही दु:ख की खान है। इसलिए अज्ञानी जीव को अज्ञान को छोड़कर सुज्ञान में आसक्त होने का उपदेश आचार्य ने दिया है॥53॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलया है कि बहिरात्मा जीव का जब तक अज्ञान दूर नहीं होता है तब तक उसको सच्चा आत्महित प्राप्त नहीं होता है। इसलिए इसमें यह बतलया है कि हे योगी! अगर तुझे सच्चा आत्म ज्ञान करना है तो अज्ञान के मार्ग को छोड़कर सुज्ञान मार्ग में प्रवेश कर, अज्ञान ही संसार के लिए कारण है। अज्ञान से अनेक प्रकार की निंद्य गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, और हमेशा के लिए दुर्गति का कारण है, इसलिए अज्ञान को छोड़कर सुज्ञान की आराधना करने के लिए आचार्य ने उपदेश दिया है। मूढ़ प्राणी अज्ञान से अपना नाश आप ही कर लेता है। कहा भी है कि—

अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवोदितः पुरा।
यदज्ञ किंचित् सुखरूपमाप्यते तदर्थ विद्धयन्धकवर्तकीयकम्॥100॥

अब कदाचित् तू उपदेश पाकर सुधर जायगा। पर अभी तक तो तुझे कर्तव्यापकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ। तूने आज तक अपने ही हाथ से अपने ही नाश के कारण इकट्ठे किये हैं। जैसे कोई बकरा कटने के लिए आप ही जमीन में गढ़ी हुई छुरी को पैरों से खोद खाद करके काटने वाले के सामने कर दे। अथवा ऊपर से पड़ती हुई तलवार के नीचे आप ही अपना सिर झुकादे, जिससे कि बेमौत ही उसका मरण हो जाय। ठीक ही है, जब तक हिताहित का ज्ञान ही नहीं है तब तक अपने हाथ से अपना अहित कर लेना भी क्या बड़ी बात है।

यहाँ शंका उठती है कि जीवों के सभी काम जब कि दु:खदायक नहीं है तो सभी को अजाकृपाणीय या आप ही अपना घातक कैसे कहा जा

सकता है? इसका उत्तर यह है कि, जो जीव जब तक आत्म कल्याण की खोज में नहीं लगा है तब तक उसकी सारी क्रियाएँ चाहे सुखसाधक दीखती हों या दु:खसाधक, पर बाहरी मोह से भरी हुई होने के कारण उन्हें पाप तथा दु:ख का ही कारण कहना चाहिए और कदाचित् पंचेन्द्रिय भोगोपभोग की सिद्धि होते देखकर उन क्रियाओं में सुख क्रियायें कितनी हैं? सुख कितनी जगह दीख पड़ता है? इस प्रकार विचार करेंगे तो जान पड़ेगा कि सुख का मिलना बहुत ही कठिन है। दु:ख आपत्ति विपत्ति पर्वत के बराबर है तो सुख-शांति सरसों बराबर। इसीलिए ऐसा कहा है कि जो कुछ इस दु:खमय संसार में थोड़ा सा सुख दु:ख दीख पड़ता है। उसे ऐसा समझो जैसे अन्धे के हाथ बटेर। अंधा हाथ पसारे और बटेर उसके हाथ में पड़ जाय, यह जैसा असंभव नहीं पर, अति कठिन है, वैसे ही संसार में जहाँ कि दु:ख नजर आते हैं उसमें कभी कहीं सुख का लेश मिल जाना असंभव नहीं तो भी अति कठिन तो है ही।

जो काम सहज रीति से सब जगह होते रहते हैं उन्हें 'अजाकृपाणीय' कहते हैं। यह शब्द उपमा द्योतक है। अंधकवर्तकीय शब्द भी उपमार्थ का द्योतक है। अतिकष्टसाध्य कार्यों के लिए यह शब्द बोला जाता है। भावार्थ, दु:ख के साधन तो सदा कर्मों में मिलते रहते हैं पर सुख के साधनों का मिलना अति दुर्लभ है किन्तु चाह तुझे सुख की ही हो रही है। इसलिए सुख के साधन तुझे तभी मिल सकेंगे जब कि तू बहुत ही सोच समझकर चलेगा और आत्मा का कल्याण विषयों से विमुख होकर साधना चाहेगा।

परन्तु अज्ञान का प्रेम से छुटकारा नहीं होता, यह कितने खेद की बात है। कहा भी है कि—

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधीं सहोद्गतो।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीर के॥

जन्म मरण होना ये जीवों के माता-पिता हैं। आधि व्याधियाँ सहोदर भाई हैं। समीप में ठहरा हुआ बुढ़ापा, यह इन जीवों का मित्र समझना चाहिए।

शरीर धारण करने वाले जीव के साथ माता, पिता, भाई, मित्र, की तरह जन्म मरण आधि व्याधि तथा जरा ये दु:ख सदा लगे ही रहते हैं ऐसे दु:खपूर्ण शरीर में क्या आस्था होनी चाहिए? कुछ नहीं। परन्तु अज्ञानी प्राणी फिर भी इस शरीर में ममत्व व सुख की आशा लगाये ही रहता है। अरे भाई! यह शरीर क्षणभंगुर है व आधि व्याधि तथा बुढ़ापे के दु:खों से परिपूर्ण है। और तेरा निजात्मा अजर, अमर अव्याबाध, व शाश्वत सुख का धाम है। फिर तू इस तुच्छ शरीर से प्रेम क्यों करता है?

आगे अब शरीर व आत्मा में अन्तर बताते हैं—

शुद्धोप्यशेषविषयावगमोप्यमूर्ता।
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि॥
मूर्त सदा शुचि विचेतनमन्यदत्र,
किंवा न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम्॥

अरे भाई तू स्वत: संपूर्ण चराचर विषयों को जान सकता है, अमूर्तिक है, अत्यन्त शुद्ध है। परन्तु शरीर ने तुझे अत्यन्त अज्ञानी बना रक्खा है, जड़ के समान मूर्ति सरीखा बना दिया है व बहुत ही मलिन कर दिया है ? ऐसा हुआ क्यों ? यों, कि शरीर स्वयं चैतन्य शक्ति रहित है, मूर्तिक है व अशुद्ध है यह शरीर तेरे ऊपर अधिकार प्राप्त कर चुका है, इसलिये तो तुझे इसने अपना सा बना लिया है। यदि तू सावधान हो तो शरीर की क्या शक्ति है कि वह तेरे ऊपर अपना प्रभाव डाल सके। तू यह भी मत समझ कि मैं इस शरीर से जुदा हो ही नहीं सकता हूँ। यह शरीर तुझसे वास्तव में जुदा है। अपनी शक्ति से जुदे को जुदा कर देना व अपना मूल सुख स्वभाव प्रगट करना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु तू शरीर से जुदा जब तक नहीं होता है, तब तक तेरी यही दुदर्शा बनी रहेगी। शरीर से जिसका सम्बन्ध एक बार हो जाता है, उसमें ऐसी कौन सी चीज है कि जिसे अपवित्र बनाया नहीं है ? इस शरीर की जितनी निंदा की जाय उतनी ही थोड़ी है। जो शरीर केसर कपूर आदि पवित्र व सुगंधित वस्तुओं को लगाते ही अपवित्र व दुर्गन्ध युक्त कर देता है, उस शरीर को अनेक बार धिक्कार है। तब—

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम्।
ज्ञानं काया शुचिज्ञानं, तत्यागः किल साहसः॥

अरे जीव ! जिस प्रत्यक्ष शरीर के पराधीनताजन्य अपार दुःखों से तू अति दुखी हो रहा है उस शरीर के विषय में अब तुझे क्या करना उचित है ? तुझे चाहिए कि शरीर को अपवित्र व दुःखदायक माने। तभी तेरा ज्ञान सत्य ज्ञान कहावेगा। और इतना समझ लेना भी बस न होगा। तब ? असली साहस तेरा तब समझना चाहिए कि तू इससे उपेक्षा करके किसी दिन सर्वथा इसे त्याग दे। तू वास्तविक सुखी व स्वाधीन तभी बन सकेगा।

सम्यग्ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिए यह जीव स्व पर ज्ञान की पहचान करके अन्तरात्मा के सम्मुख होकर बहिरात्मा के भाव से विमुख हो और अन्तरात्मा के सम्मुख हो करके आप अपने अन्दर लीन होकर कर्म बन्धन को नष्ट करे। यही मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य मिथ्या मार्ग से आज तक मुक्ति न हुई है और न होगी। मुक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की अराधना से ही होगी। ये ही मुनि का मार्ग भगवान जिनेन्द्र देव ने बताया है। वीतराग धर्म के बिना और किसी अधर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। अज्ञान मार्ग को छोड़कर ज्ञान मार्ग की आराधना करो।

बहिरात्मा भाव को छोड़ो। कहा भी है कि–

कायामे जीव जीवने, कायं तनयं पेरंगमेवं मिथ्या।
खयत्तदि नंगाणि, ज्ञेय विचार दोके मूढ़मति बहिरात्मं॥54॥

अर्थ–मिथ्यात्व से पराधीन होकर मूढ़ मति बहिरात्मा शरीर और देह धारी दोनों की भिन्नता का विचार न करें, अपने को और देह को जीव समझता है यह कितने आश्चर्य की बात है॥54॥

विवेचन–ग्रंथकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि मिथ्यात्व से ग्रसित बहिरात्मा जीव ने यह अपने अन्दर धारणा बना रखी है कि जो मेरा शरीर है और शरीर सम्बन्धी घर, खेती बाड़ी, पशु, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि

जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी जीव हैं और वे ही मेरी आत्मा है। मुझसे इनमें से कोई भी वस्तु भिन्न नहीं है, ये मेरे ही आत्म रूप हैं, मेरी आत्मा से भिन्न नहीं, ऐसी कल्पना करके इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। रात दिन देह का ही चिन्तवन या मनन करता रहता है। शुभचंद्राचार्य ने अपने ज्ञानर्णव में बहिरात्मा अज्ञानी जीव का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि–

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढ़धीः।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम्॥11॥

जो बहिरात्मा है वह चैतन्य स्वरूप आत्मा को देह के साथ संयोजन करता है अर्थात् जोड़ता है। जो ज्ञानी है वह देह से देही को पृथक ही देखता है। यही बहिरात्मा और अन्तरात्मा में भेद है।

अशुद्धारैरविश्रान्तं स्वतत्वविमुखैभृशम्।
व्यापृतो बहिरात्मोयं वपुरात्मेति मन्यते॥

यह बहिरात्मा आत्म स्वरूप से अतिशय करके निरन्तर विमुख इन्द्रियों के द्वारा व्यापार रूप होकर शरीर को ही आत्मा मानता है।

अविद्या से अर्थात् मिथ्यात्व या मिथ्याज्ञान से खिन्न हुआ मूढ़ बहिरात्मा देव पर्याय सहित आत्मा को देव मानता है और मनुष्य पर्याय सहित अपने को मनुष्य मानता है तथा तिर्यञ्च के शरीर मे रहते हुए तिर्यञ्च और नारकियों के शरीर में रहते हुए अपने को नारकी मानता है सो भ्रम है क्योंकि पर्याय का रूप आत्मा का रूप नहीं है, आत्मा का रूप तो अमूर्तिक है, स्वसंवेद्य है अर्थात् अपने ही द्वारा अपने को जानने योग्य है।

तथा वही बहिरात्मा अज्ञानी जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा मानता है उसी प्रकार पर के अचेत देह को देखकर पर आत्मा मानता है। अर्थात् उसका पर की बुद्धि से निश्चय करता है। अपने शरीर में तो अपनी आत्मा जाने और पर के शरीर में पर की आत्मा जाने, इस प्रकार शरीर में अवलम्बन स्वरूप प्रवर्त हुए विकल्पों से आत्मा में आत्मा के देखने वाले अज्ञानी जनों ने लोगों को ठग लिया है।

इस कारण से मिथ्याज्ञानरूपी ज्वर से निरन्तर पीड़ित होकर वह बहिरात्मा अज्ञानी अपने से अत्यन्त भिन्न पशु, पुत्र, स्त्री आदि में आत्मपना मानता है। यह मूढ़ बहिरात्मा अपने से भिन्न अचेतन पदार्थों को साक्षात् अपने में ही निश्चय करके उनके नाश होने और संचय होने में अपना ही नाश और संचय होना मानता है।

यह पूर्वोक्त अनादि से उत्पन्न हुआ अविद्या रूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ़ प्राणी शरीरादिक को अपना मानता है अर्थात् यह शरीर है सो मैं ही हूँ इस प्रकार देखता है। शरीर में जो आत्म बुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादि की कल्पना उत्पन्न कराती है तथा इस कल्पना से ही जगत इसे अपनी सम्पदा मानता हुआ ठगा गया है। शरीर में ऐसे जो भाव कि यह मैं आत्मा ही हूँ ऐसा भाव संसार की स्थिति का बीज है। इस कारण बाह्य में नष्ट हो गया है इन्द्रियों का विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भाव रूप संसार के बीज को छोड़कर अन्तरंग में प्रवेश करे ऐसा उपदेश है।

ग्रंथकार कहते हैं कि हे निर्बुद्धि अज्ञानी बहिरात्मा जीव ! तू कितना मूर्ख है समझ में नहीं आता कि तेरे पास अखण्ड अविनाशी अत्यन्त पवित्र परमात्म सुख स्वरूप निजात्म निधि होने पर भी उसकी पहचान न करके क्षणिक तथा निरंन्तर दु:ख देने वाले मिथ्यामार्ग का अनुसरण करके कुबुद्धि बनकर अपनी सुबुद्धि से विमुख होता है। अपने नित्यानन्द निजानंद खजाने को भूलकर वाह्य वासना में रत होकर बहिरात्मा को अपना समझ और अन्तरात्मा को पर समझकर पशु के समान कन छोड़कर भूसे को ही खाने के समान तू अपने इस पुद्गलमय शरीर रूपी छिलके के अन्दर बीज रूप में रहने वाले आत्म देव को भूल कर केवल बाह्य शरीर और उसमें भरी विषय वासना को ही अपनी आत्मा मान कर संसार सागर में जन्म और मरण का चक्कर काटते हुए अगाध दु:ख भोग रहा है। इसलिए अब तो जाग। ऐसा श्री गुरु कहते हैं।

अरे जीव ! स्व और पर का ज्ञान करने योग्य तेरे अन्दर सुबुद्धि है। अज्ञान मिथ्यात्व की संगति से तू पशु के समान अज्ञान या अनाचार करते हुए

वाह्य वस्तु से मोहित होकर उसी को अपनी आत्मा मान बैठा है। अरे मूढ़ ! चक्षु इन्द्रिय के द्वारा दीखने वाले जो रूप पदार्थ हैं वह तेरा स्वरूप नहीं है, तेरा स्वरूप ज्ञान दर्शन चैतन्य और उपयोग मय है और अरूपी है। परन्तु अज्ञान के कारण शरीरादि पर द्रव्य को अपना और ज्ञानदर्शन मय अपने अंदर ही रहने वाले आत्मानंद निजरूप को पर मानकर इस संसार में चक्कार काट रहा है।

हे जीव ! थोड़ा चित करके विचार करो कि आधि, व्याधि, उपाधि, बिडंबना में फँसे हुए प्राणी को इस संसार में सुख और शांति आज तक मिली नहीं। इसलिये सद्गुरु बार-बार समझाते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् ! अब तो चेत। इस बिडंवना को दूर करने के लिये सुअवसर प्राप्त हुआ है। इस अवसर को संसार सुख के लिये तू व्यर्थ ही गँवा रहा है। इतना ही नहीं परन्तु तू विश्वास करता है कि कल भी कुछ प्राप्ति होगी। कल अमुक काम करुँगा। इस तरह तू विश्वास रखता है यह स्वार्थ व्यर्थ ही है, क्योंकि आज का भरोसा नहीं कल इस जीव को पता नहीं क्या होगा। परन्तु कल का भरोसा रखना नितांत मूर्खता है। आने वाले कल में क्या बनेगा क्या बलवान है यह कह नहीं सकते। भविष्यत् काल में कार्य को सफल करने की भावना रखना भी इन्सान की मूर्खता है, क्योंकि आज कल की जो आशा भविष्य में रखते हैं वह भावना भी पूर्ण नहीं हो सकती है। राजा दशरथ ने अपने मन में यह विचार किया था कि राम को कल सिंहासन पर बैठाकर अभिषेक करके संपूर्ण राज पाट सौंप देंगे। उनके मन में तीव्र इच्छा थी कि मेरा पुत्र विनय, नम्रता और संतोषवान् है, ऐसे पुत्र को अयोध्या की गद्दी पर विराजमान करूँ और मैं धर्म ध्यान में समय को व्यतीत करूँ। इसी प्रकार राज्याभिषेक करने का मुहूर्त निकालने वाले ज्ञानी वशिष्ठ मुनि भी थे। उन्होंने भी मुहूर्त निकाल कर दे दिया और सभी प्रजा में यह उत्सुकता हुई कि रामचन्द्र दशरथ की गद्दी पर विराजमान होंगे। परन्तु जब बैठने का समय आया तो उस समय होनी सामने आकर के खड़ी हो गई। परन्तु उसको कोई टाल नहीं सका। यही विधि राम को चौदह साल जंगल में बनवास के लिये खींच ले गई। इसलिये ज्ञानी जीव को भविष्य का कोई भी विचार नहीं करना चाहिये। वर्तमान समय में इस

शरीर के द्वारा जो आत्म साधन हो सकता है वह करना ठीक है। भाग्योदय से जो प्राप्त हुआ उस अमूल्य अवसर को कभी भी नहीं खोना चाहिये क्योंकि यह अवसर बार-बार प्राप्त नहीं होता है। इस सुन्दर मनुष्य पर्याय का जो अवसर मिला है उसको किसी तरह व्यर्थ ही नहीं खो देना चाहिये। संसार में जितने भी संबन्ध इस जीव के साथ मिलते हैं वे सब पूर्व कर्मों के संयोग से मिलते हैं। परन्तु उनको कभी भविष्य नहीं माने। संयोग का योग होने में विलम्ब नहीं होता है। इसलिए हे जीव ! तू इस संबध में आसक्त होकर अपने मिले हुए स्वर्ण अवसर को और ऐसी मनुष्य पर्याय को व्यर्थ ही गंवा रहा है और इसमें हर्ष मानता है, आनन्द मानता है। परन्तु माया के समान ये संबंध इस आत्मा के साथ बहुत देर तक नहीं रहते हैं। जो संबंध मिला है, उसी संबंध में हर्ष मानकर तू माया ममता में पड़ा हुआ है। इस तरह से पड़ना मूर्खता है। इसलिए संबंध में जो आसक्तपना है उसका त्याग करो और यदि भविष्य में होने वाली अनेक आधि व्याधि और आने वाले विघ्नों को अगर तुझे टालना है तो यही अवसर है। इसी समय उन्हें टालनें के लिये यत्न करो और आत्म हित कर लो। अगर तेरे मन में इस मनुष्य पर्याय को सफल करने का विचार आ जाय तो एक धर्म ही अपना शरण मान करके उसी से प्रेम कर, उसी पर श्रद्धान् रख, उसी को अपना। तब यह सारी आपत्ति टलकर आत्म गुण का विकास होगा। अगर आत्मिक गुण का विकास करने के लिये लक्ष्य नहीं बनेगा तो संसार में आने वाली आपत्ति दूर नहीं हो सकती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव ! धर्म साधन करके भविष्य में अपनी गति को सुधार लो। और वर्तमान में मिले हुए महान् मानव रत्न के द्वारा उसका साधन बना लो। वर्तमान काल में किए हुए शुभ कर्म से भूत काल में किए हुए अशुभ कर्म टल जाते हैं और भविष्यत् काल में आने वाले कर्म टल जाते हैं। सुख दुःख का भोक्ता तू आप ही हैं। जब अशुभ कर्म का उदय आता है तो उसको भोगता है और शुभ कर्म का उदय आता है तो उसको भोगता है। इस प्रकार शुभ और अशुभ दोनों कर्मों का भोक्ता आप ही है। जैसा तूने किया है, उसी के अनुसार भविष्य में भी फल मिलता है। किन्तु तुझे तो इन दोनों से ही मुक्त होना है।

एक शुद्धात्मा के अलावा तुझे और कोई शरण नहीं है। इसलिए शुद्धात्मा का आलम्बन करके तू पाप और पुण्य दोनों को हटा कर भविष्य में सुख और शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न कर। यही सद्गुरु का उपदेश है।

बहिरात्मा शरीर मोह के कारण संयम के नाम से घबड़ाता है इसलिये उसमें निर्जरा भाव नहीं होता है ऐसा आगे श्लोक में कहा गया है–

ओवो बहिरात्मा नक्कट् सावेयतरे विकलनागि ककषक नक्कुं।
भाव सहजात्मनक्कट सावेयतरे बगेयनुनियनगियं सुरिगयं ॥55॥

''बहिरात्मा मरण के समय मन में अधैर्य को प्राप्त होता हैं''

अर्थ–ओ हो ! यह बहिरात्मा मरण के समय मन में अधैर्य को प्राप्त होता है, भयभीत होता है। अनेक प्रकार के संताप करता है, दु:ख मानता है, लम्बी-लम्बी श्वास लेता है, तेजहीन हो जाता है मरते समय बार-बार अपने कुटुम्ब या स्त्री, पुत्र माता, पिता आदि की तरफ देखकर नाना प्रकार के विलाप करता है। हाय! मैं इन सब चीजों को छोड़कर कैसे मरूँ, भगवान मुझको मरण से छुड़ा ! मेरे पीछे इन सबका क्या होगा, कौन इन सबकी रक्षा करेगा। मेरे पीछे मेरी स्त्री की और बाल बच्चों की क्या गति होगी ? अब मैं क्या करूँ, किसकी शरण जाऊँ। ऐसे नाना प्रकार के विषाद दु:ख तथा विलाप कर अंत में दुर्ध्यान सहित मरण को होकर अत्यंत निद्य पर्याय में जाकर उत्पन्न होता है वहाँ के दु:खों को भोगता है। परन्तु बहिरात्मा जैसे वाह्य अपने इष्ट मित्र तथा स्त्री, पुत्र, माता, पिता, बंधु-बांधवजनों को याद करते करते मरण को प्राप्त होता है उसी तरह यदि अंत में वीतराग भगवान अरहंत जिनेन्द्रदेव का नाम स्मरण करते हुए इस शरीर को छोड़ता तो इतना दु:ख इहलोक और परलोक में न उठाना पड़ता। किन्तु इस बहिरात्मा का मोह वाह्य वस्तु में है। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं हो सकती। परन्तु अंतरात्मा ज्ञानी जीव की दृष्टि वाह्य वस्तु पर रहने पर भी हमेशा अंतर की ओर रहती है। अंतरात्मा आयु का अवसान नजदीक आया देख सुनकर कभी भी घबड़ाता नहीं है वह मन में विचारता है कि ये जितनी वाह्य वस्तुऐं हैं, ये सब मेरी आत्मा

से भिन्न हैं और सभी चीजें उपार्जित किये हुए निमित्त से मुझे प्राप्त हुई है। ये सभी स्त्री, पुत्र, बंधु-बांधव आदि जो भी मुझे दीख रहे हैं, मुझे प्यार कर रहे हैं, वे सभी मेरे पुण्य से मेरे शरीर को प्रेम कर रहे हैं, मेरी आत्मा से नहीं। पाप और पुण्य के उदय से आत्मा के साथ उनका संयोग और वियोग है। सम्बन्ध क्षणिक है, इसलिये इनके संयोग वियोग में मुझे कभी हर्ष और विषाद नहीं करना चाहिए। अपनी मर्यादा पूर्ण होने के पश्चात् इस आत्मा से इनका जुदा होना निश्चित है इसलिये मुझे इन चीजों के वियोग में शोक करना उचित नहीं है। मेरी आत्मा अविनाशी है, अबाधित है, हर्ष विषाद रहित है और सुख का सागर है, अमर है, बाधाओं से रहित है, यह मुझसे भिन्न कभी नहीं होता है। यह दर्शन, ज्ञान, चैतन्य स्वरूप है, जन्म मरण और जरा से रहित है। इस प्रकार विचार करता हुआ अंतरात्मा ज्ञानी जीव वाह्य वस्तु के वियोग में कभी भी दु:ख नहीं मानता और हमेशा आत्मानंद में मग्न होते हुए अपने हृदय में सदा आनन्द मानता है। वह तिल मात्र भी भयभीत नहीं होता। यही अंतरात्मा और बहिरात्मा का लक्षण है।

विशेषार्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में अंतरात्मा और बहिरात्मा का लक्षण विशेष रीति से बतलाया है। बहिरात्मा जीव मरण के समय को सुनकर अत्यन्त भयभीत होता है कि अरे, ये सभी चीजें मेरी ही थीं अब इन सभी को छोड़कर मैं जाऊँ तो इन वस्तुओं का क्या होगा ? कौन लेगा ? कौन ग्रहण करेगा, इसका मालिक कौन बनेगा, कष्ट करके इन सब वस्तुओं को मैंने कमाया था, कैसे छोड़कर जाऊँ। इस तरह मन में अत्यंत दुखी तथा भयभीत होकर आर्त और रौद्र ध्यान करते हुए मरण को प्राप्त होता है। और जन्म-मरण के चक्कर को काटते हुए चारों गतियों में भ्रमण करता रहता है। जब तक इस जीवात्मा के भीतर वाह्य वस्तु का मोह रहेगा तब इस आत्मा को सुख और अपने निज की खबर नहीं होगी। हर स्थान में कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ेगा।

कुन्दाकुन्दाचार्य ने अपने प्रवचन सार में कहा कि—

मणुआअसुरामरिंदा अहिदुदाइंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुःखं रमंति विसएसु रम्मेसु॥63॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा, धरणेन्द्र व स्वर्ग के इन्द्र आदि अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुई इन्द्रियों की पीड़ा से घबड़ाते हैं। उस इन्द्रिय भोग की चाह के दु:ख को सहन करने में असमर्थ होकर भ्रम में रमणीक इन्द्रियों के पदार्थों को भोगते हैं परन्तु फिर भी तृप्ति नहीं पाते हैं।

जेसिंसि विसएसु रदी, तेसिं दु:क्खं वियाण सब्भावं।
जदि तंण हि सब्भावं, बावारो णत्थि विसमत्थं॥64॥

जिन प्राणियों को इन्द्रिय भोगों में रति है उनको स्वभाव से ही दु:खी जानो क्योंकि यदि स्वभाव से पीड़ा या आकुलता या चाह की दाह न हो तो कोई इन्द्रिय भोगों में नहीं पड़े। "तृष्णा की बाधा तृष्णा से मिट जायेगी", ऐसा समझकर विषयों में रमते हैं परन्तु तृष्णा तो मिटती नहीं।

सोक्खं, सहाविसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु॥71॥

देवों को भी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न सहज आत्मिक सुख का लाभ नहीं होता इसलिए सच्चे सुख को न पाकर शरीर की पीड़ा से घबड़ाये हुए कि हमारी बाधा मिट जायेगी, रमणीक विषयों में रमते हैं परन्तु तृष्णा को शमन नहीं कर सकते।

ते पुण उदिण्ण तण्हा, दुहिदा तण्हाहिंविसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतता॥79॥

संसारी प्राणी तृष्णा के वशीभूत होकर, तृष्णा की दाह से दु:खी होते हुए इन्द्रियों के भोगों के सुख को बार-बार चाहते हैं और भोगते हैं। मरण पर्यन्त ऐसे रहते हैं, तथापि दु:ख से संतापित ही रहते हैं। इन्द्रियों के भोग से चाह की दाह नहीं मिटती, यहाँ तक कि मरण हो जाता है। जैसे जोंक विकारी खून को तृष्णावश पीती ही रहती है, सन्तोष नहीं पाती है, यहाँ तक कि उसका मरण हो जाता है।

सपरं बाधसहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दु:क्खमेव तधा॥80॥

पांचों इन्द्रियों के भोगों से जो सुख होता है, वह सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है क्योंकि एक तो वह पराधीन है। अपने इन्द्रियों से भोगने योग्य शक्ति हो व पुण्य के उदय से इच्छित पदार्थ मिलें तब कहीं सुख होता है अन्यथा नहीं। दूसरा क्षुधा, तृष्णा आदि रोगादि की बाधा सहित है, बीच में विघ्न आ जाता है। तीसरे विनाशीक है, भोग्य पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते हैं या जल के बुलबुले के समान शरीर छोड़ देता है। चौथे कर्मबन्ध के कारण हैं क्योंकि राग भाव बिना इन्द्रियों के भोग नहीं भोगे जा सकते। जहाँ राग है वहाँ बन्ध है। पाँचवे विषम हैं, चंचल हैं सदा एक सा सुख नहीं होता है तथा समताभाव को बिगाड़ने वाले है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड़ में कहते हैं–

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्ठए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं॥66॥

जब तक यह आत्मा इन्द्रिय विषय भोगों में आसक्त होकर प्रवृत्ति करता रहता है, तब तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है। जो योगी इन विषय भोगों से विरक्त है वही आत्मा को पहचान सकता है।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपरिभट्टा।
हिंडंति चाउरंगं विसयेसु विमोहिया मूढ़ा॥67॥

कोई मानव शास्त्र द्वारा अनुभव पूर्वक आत्मा को जानकर भी अपने स्वरूप की भावना से भ्रष्ट होते हैं, मंदबुद्धि रखते हुए इन्द्रियों के विषय भोगों में मोहित होते हुए चारों गतियों में भ्रमण किया करते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडति चाउरंगं तव गुणजुत्ता ण संदेहो॥68॥

परन्तु जो कोई इन्द्रियों के भोगों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसकी भावना करते हैं वे तप व मुनियों के मूलगुणादि सहित होकर अवश्य ही चार गति रूपी संसार को छेद डालते हैं, इसलिये संदेह नहीं।

आचार्य कहते हैं कि हे भव्य प्राणी ! इस जीव में जो शुभ और

अशुभ कर्म का उदय होता है वह सत्य और असत्य निमित्त से आता है। तब यह जीव सुख और दु:ख को भोगने वाला बन जाता है। पर हे जीव ! तू अशुभ करनी करके शुभ साधन चाहेगा तो कहाँ से मिलेगा ? दु:ख के निमित्त भी मिल जायें अर्थात् हजारों दु:ख भी आकर उपस्थित हो जायें तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि जब शुभ साधन तुझे प्राप्त हो जायेगा तो दु:ख शुभ साधन के आगे टिक नहीं सकेगा। अगर पूर्व पुण्य के योग से तुझे पंचेन्द्रिय विषय सुख भी प्राप्त हुआ और उसको भोगते समय धर्म साधना के अपने कर्त्तव्य से च्युत हुआ तो पूर्व जन्म के पुण्य वहीं खत्म हो जायेंगे और आगे चल कर तुझे पाप के योग से असह्य और महान् दु:ख उठाने पड़ेंगे। इसलिए तू अगर शुभ फल को भोगना चाहता है तो उसको सम्यग्ज्ञान के द्वारा भोग अर्थात् इन इन्द्रिय विषयों को भोगने के पहले तू सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर ले। यदि उस समय दु:ख आने लगेंगे तो सम्यग्ज्ञान के द्वारा तू चिन्ता में नहीं पड़ेगा, उस दु:ख से घबरा कर अधर्म की तरफ नहीं जायेगा। बल्कि उस दु:ख को पूर्वोपार्जित पाप का उदय समझकर सम्यग्ज्ञान के द्वारा दूर कर देगा। वह ज्ञानी आये हुए उपसर्ग को सहन करके अपने आत्मस्वरूप का चिन्तवन करते हुए उस दु:ख को आत्मा से भिन्न मानता है और दु:ख न मानकर सुख मानता है और यह भी विचार करता है कि परीक्षा करने के लिये या कर्म की निर्जरा के लिये यह दु:ख-उपसर्ग मेरी आत्मा को हो रहा है। परन्तु मेरी आत्मा सम्पूर्ण पर वस्तु से भिन्न है और मेरा और इस पर वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं है केवल पूर्व जन्म में इस पर वस्तु के साथ राग भाव किया था, वही इस समय उदय होकर फल दे रहा है। इसको सहन कर लेना मेरा कर्त्तव्य है। अगर मैं सहन करता हूँ तो मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता हूँ। इसलिए हे जीवात्मन् ! इस दु:ख को तू परीक्षा समान मान। सुख और दु:ख में सम्यग्ज्ञान की जरुरत है। जब तू सुख के संयोग से उस सुख में मग्न रहता है तब तुझे सम्यग्ज्ञान नहीं रहता है। तब अनेक प्रकार के अहंकार तेरे सामने आकर खड़े हो जाते हैं। तब अपने निज कर्त्तव्य से च्युत होकर कमजोर बन जाता है। उसी समय कर्म का बन्ध होता है। तब तू अनेक प्रकार की विडम्बना करने लगता है। उस पाप

कर्म को भोगे बिना तेरा गुजारा नहीं हो सकता है। इसलिए इन सभी को दूर करने के लिये सम्यक्त्व की जरुरत है। सम्यग्ज्ञान की जरुरत है। और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र की जरुरत है। सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ सम्यक् क्रिया की भी अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान और उसके अनुसार क्रिया होगी, तो तभी धर्म साधन सार्थकता को धारण करेगा। इसलिए हे जीवात्मन् ! तुझे यह सभी इसी मानव पर्याय में करना है, अन्य पर्यायों में साधन नहीं बन सकता है और यह सब सामग्री मिल भी नहीं सकती। ये सभी धर्म साधन क्रिया तुझे स्वयं ही कर लेनी होंगी। मोह के निमित्त परिवार आदि के झंझटों में अगर पड़ेगा तो फिर तेरे ये सब धर्म साधन की कमाई नष्ट हो जायेगी। इसलिए तू इनके मोह में मत पड़। परिवार और स्त्री, पुत्र कुटुम्बादि के पोषण का ज्ञान क्रिया के साथ हो सकता है और इससे चिकने कर्म भी नहीं बंधते हैं।

हे जीव ! तू आज तक जितनी रूपवती स्त्रियों के रूप को देखकर उनमें मोहित हुआ है, इनमें भी सुंदर अत्यन्त रूपवती, अनेक गुणों से युक्त मोह लक्ष्मी तेरे अन्दर ही अनादि काल से वास कर रही है। यदि तू एक बार उसे देख लेगा या उसका अनुभव कर लेगा तो संसार की सम्पूर्ण स्त्रियाँ तुझे असुन्दर दिखाई देने लगेंगी। और तब तुरन्त दुनियादारी और बाह्य विषय भोगों को भूल जायेगा। सचमुच में वही अपना स्वरूप है। इसलिए तू उसी की आराधना कर।

तेरे अन्दर ही चिंतामणि पारस पत्थर के समान अत्यंत लाभ को देने वाला यह जैन धर्म है। तू अपने अज्ञान के द्वारा इसे संसार रूपी समुद्र में मत फेंक देना तीन लोक में इसके समान और कोई भी वस्तु नहीं है। यह चिंतामणि रत्न बार-बार नहीं मिलता है। अगर तेरे ऊपर हिमालय पर्वत के समान भारी दु:ख भी आ जायँ वो भी पारस पत्थर के समान इस जैनधर्म से मिट सकते हैं। अगर तू विषयवासनाओं के आधीन होगा तो अपने स्वरूप को भूलकर आत्मज्ञान में वंचित रहेगा। पुन: तुझे संसार में रुलना होगा। अज्ञान से कभी लाभदायक आत्म हित की प्राप्ति नहीं होती है। सुज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान और चारित्र से ही आत्महित होता है। जैसे एक अज्ञानी भील निरंतर जंगल में से

लकड़ियाँ काटकर अपनी आजीविका चलाता था। वह एक कुल्हाड़ी हाथ में लेकर जंगल में लकड़ी काटने को गया, जाते समय देखा कि कुल्हाड़ी की ध ार उतरी हुई है। धार घिसकर ठीक करने के लिये इधर-उधर पत्थर देखने लगा। ढूँढते-ढूँढते जंगल में एक जगह एक पत्थर पड़ा हुआ मिला वह चमकीला था। उस पत्थर को देखकर उस पर अपनी कुल्हाड़ी की धार ठीक करने के लिये घिसने लगा। घिसते-घिसते कुल्हाड़ी की धार पीली होती गई। अन्त में संपूर्ण कुल्हाड़ी पीली हो गई। जिसके ऊपर अपनी कुल्हाड़ी को घिस रहा था, वह वास्तव में पत्थर नहीं था, वह मूल्यवान पारस पत्थर था। वह अज्ञानी होने के कारण उसकी परीक्षा नहीं कर सका। कुल्हाड़ी की धार नरम होने के कारण वह मन में बड़ा अफसोस करने लगा। और दूसरे उसको भारी चिंता उत्पन्न हो गई। उस कुल्हाड़ी को लेकर लुहार के पास आया और कहने लगा कि इस कुल्हाड़ी को जितना-जितना पत्थर पर घिसता हूँ, उतनी ही उतनी पीली पड़ती जाती है। इसको तुम रखकर मुझे दूसरी कुल्हाड़ी दे दो। यह सुनकर लुहार ने विचार किया कि कुल्हाड़ी पीली होने का कारण एक ही है कि इसे कहीं पारसमणि मिल गई है। उसके सिवाय लोहे की कुल्हाड़ी कभी पीली नहीं हो सकती है। इसलिये वह पारस पत्थर ही होना चाहिये। वह पत्थर कहाँ है, उसकी भी तलाश करनी चाहिये। इस तरह मन में विचार करके लुहार उस अज्ञानी भील से बोला—अरे भाई! वह पत्थर कहाँ है मुझे बता ? बाद में तुझे दूसरी कुल्हाड़ी दूँगा। भील ने जंगल में ले जाकर लुहार को वह पारस पत्थर बता दिया उसको देखते ही लुहार तुरन्त पहचान गया कि यह पारसमणि है तुरन्त उसको उठाकर अपने घर में ले आया और उस भील की पीली कुल्हाड़ी को भी अपने घर में रख लिया। उसके बदले लोहे की एक दूसरी कुल्हाड़ी उसे दे दी। भील उस कुल्हाड़ी को लेकर खुशी-खुशी लौटकर जंगल में लकड़ी काटने गया। इधर लुहार ने इस पारसमणि से हजारों मन सोना तैयार कर लिया। सोना उसने इतना अधिक तैयार किया जितना राजा के खजाने में भी नहीं था। अपने घर में थाली, कटोरी, लोटा, आदि जितने भी बर्तन थे, वे सभी सोने के बना लिए घर में सोने की चीज ही अपने काम में लेने

लगा। वह एक राजा के समान मौज करने लगा। उसको पुत्र की बड़ी अभिलाषा थी। पुत्री के अतिरिक्त उसके दूसरी सन्तान नहीं थी। पुत्री बड़ी हुई वह बहुत चालाक थी। विचार करने लगी कि यह सभी वैभव साधन सामग्री पारसमणि के प्रभाव से प्राप्त हुई है इसलिये मेरा पिता किसी अच्छे तरुण श्रीमन्त लड़के के साथ मेरा ब्याह करेगा। मेरा पति ब्याह के बाद कुछ माँगेगा जरुर तब मैं पति से कहूँगी कि तुम मेरे पिता से कुछ नहीं माँगो केवल घर में रखी हुई पारसमणि माँगो। मेरे प्रति अत्यधिक प्रेम होने के कारण मेरा पिता इन्कार नहीं करेगा। और वह दे देगा। इस तरह विचार करते-करते एक दिन ऐसा ही मौका आया उसका विवाह एक रूपवान वर के साथ हो गया। ब्याह के बाद उसने अपने पति से वही बात कही कि मेरे पिता से और कोई वस्तु न माँगकर पारसमणि माँगो। इस पारसमणि के निमित्त से राजा के समान जो संपत्ति चाहिये वह सभी प्राप्त हो जायेगी। स्त्री के कहने के अनुसार उसके पति ने अपने श्वसुर से वही माँग की। पुत्री के प्रेम के कारण उसे पारसमणि दे दी। जब जमाई के हाथ में वह पारसमणि आई तो दामाद उसको देखकर विचार करने लगा कि यह तो पत्थर है मैं इसका क्या करूँगा। मेरी स्त्री ने इस पत्थर के अलावा कोई और चीज माँगने नहीं दी मेरा विचार तो कुछ और ही माँगने का था। परन्तु मैं भी कितना मूर्ख हूँ कि मैंने यह पत्थर माँगा। मेरी पत्नी ने मेरे साथ ही चालाकी की है। पिता के ऊपर प्रेम होने के कारण दूसरी कोई सुन्दर वस्तु की माँग उसने करने नहीं दी है। इस तरह विचार करके वह चुप रह गया। तत्पश्चात् लुहार ने बड़े ठाट बाट और प्रचुर दहेज के साथ वर-कन्या को विदा कर दिया। घर जाकर भी पति के मन में यही खटकता रहा कि मेरे ससुर ने मुझे पत्थर दे दिया, इससे कोई लाभ नहीं है। वस्तुत: पारसमणि के पत्थर का लाभ उठाने का उसको ज्ञान नहीं था। वह बार-बार अपने मन में पछताता था कि मेरी स्त्री ने मुझसे चालाकी की और कुछ माँगने नहीं दिया। एक दिन क्रोध में उसने अज्ञान के वश वह पारस मणि एक सरोवर में फेंक दी। उसकी पत्नी को जब यह पता चला तो उसे बड़ा दु:ख हुआ। मेरा पति बलवान है। रूपवान है। सब कुछ है परन्तु बड़ा जड़ मूर्ख है। मैंने अपने पति के प्रेम के कारण उस पत्थर को माँगा और और उसने वहीं फेंक

दिया। अब वह कहाँ से मिलेगा। एक बार समुद्र में जाने के पश्चात् वह पत्थर क्या आसानी से हाथ में आ जायेगा ? कभी नहीं।

इसी प्रकार देव दुर्लभ मनुष्य भव में चिंतामणि या पारसमणि के समान जैन धर्म तुझे प्राप्त हुआ है, उसको अज्ञान अहंकार, माया, ममता में व्यर्थ गँवा देना ठीक नहीं है। जैसे समुद्र में फेंक देने पर मणि का दुबारा हाथ में आना बड़ा मुश्किल है। उसी प्रकार मनुष्य जन्म और जैन धर्म को पाकर सांसारिक सुखों में फंस कर उसे व्यर्थ गंवा देना ठीक नहीं है। फिर उसका पुन: प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिये हे जीव ! तुझे चिन्तामणि जैन धर्म मिला है। इसकी अच्छी तरह से आराधना कर। बिना इसके आत्म-स्वरूप की सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। इसके बिना तुझे सुख और शाँति अत्यन्त दुर्लभ है।

परीषह जीतने का उपदेश करते हैं।

नंदनषनंग कोकगण, चंदन कर्पूर सुरभिकालगरूक्।
बैदुं कम्मिदव प्पुवु, नोंदुं सत्पुरुषरात्महितवने बगेवर ॥56॥

अर्थ—नन्दन वन में रहने वाले श्री गंध, चन्दन, कपूर, सुगंध पुष्प, कालगरू आदि सभी सुगन्धित वस्तुओं को जलाया जाय, फिर भी अपने परिमल सुगन्ध को त्यागते नहीं बल्कि जितने भी जलाते जायें उतनी सुगन्ध ज्यादा फैला देते हैं। इस तरह हे योगी ! सत्पुरुषों पर कितना भी कष्ट का समय आ जाय या दुश्मन के द्वारा उपसर्ग को फिर भी वे अधर्म को प्राप्त नहीं होते हैं और आत्म चिन्तवन को त्यागते नहीं हैं। धैर्यपूर्वक उसका चिंतवन करते रहते हैं ॥56॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बतलाया है। कि नन्दन वन में उपलब्ध होने वाले सुगन्धित द्रव्य, कपूर, चन्दन, कालगरू आदि सुगन्धित सभी वस्तुओं को जला देने पर भी वे अपनी सुगन्ध को नहीं त्यागते हैं। जितना जलाते जायें सुगंध उतनी बढती जाती है। इसलिए योगी आदि सत्पुरुष अनेकों कष्ट आने पर भी अपने आत्मबल के द्वारा आये हुए उपसर्ग को सहन

करके उस उपसर्ग से विचलित नहीं होते हैं और जितना-जितना उपसर्ग होता जाता है वे उसे धैर्य पूर्वक सहन कर आत्म चिंतन करते रहते हैं ॥56॥

कहा भी है कि—

मुनि जब अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करता है तब वह विचार करता है कि मैंने कृत कारित अनुमोदन से तीन कालों में जितने भी कर्म उपार्जन किये हैं उन समस्त कर्मों को त्याग कर मैं अब परम निष्कर्म अवस्था का अवलम्बन करता हूँ। मोह से जो कुछ भी मैंने भूतकाल में कर्म किये हैं उन सबका प्रत्याख्यान कर मैं चैतन्य स्वरूप और निश्चल अपनी आत्मा में स्थित होता हूँ। मोह और विलास से उदित और वृद्धि को प्राप्त हुए वर्तमान काल के समस्त कर्मों की आलोचना कर चैतन्य स्वरूप निश्चल अपनी आत्मा में स्थिति करता हूँ। मोह से सर्वथा रहित होकर आगे उदय में आने वाले कर्म का प्रत्याख्यान कर चैतन्य स्वरूप निश्चल आत्मा में सदा स्थिति करता हूँ। इस प्रकार तीनों कालों के समस्त कर्मों को नष्ट कर परम शुद्ध नय का अवलम्बन करने वाला मोह और उसके विकारों से रहित मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा का अवलम्बन करता हूँ। अन्त में बिना फल दिये मेरे कर्म रूपी विष वृक्ष के फल नष्ट हो जायें इस कामना से मैं निश्चल चैतन्य स्वरूप का आत्मा में ध्यान करता हूँ।

शोकं भयमवसादं क्लेशं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥126॥रत्न.श्रा.
आहारं परिहाय क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥127॥रत्न.श्रा.
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तुनं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥128॥रत्न.श्रा.

अर्थात् शोक, भय, खेद, क्लेश, कालिमा और अरति का सर्वथा त्याग कर और आत्मिक उत्साह को प्रकट कर शास्त्र रूपी अमृत से मन प्रसन्न रखना चाहिए। तथा आहार का त्याग कर स्निग्ध दूध आदि पान करना

चाहिए और पीछे स्निग्ध पान को भी त्याग कर छाछ पान करना चाहिए। तथा खरपान का भी त्याग कर शक्ति पूर्वक उपवास कर पंचनमस्कार मंत्र में लीन हो बड़े यत्न से शरीर का त्याग करना चाहिए।

विद्वानों को चाहिए कि इस उपाय से अवश्य उत्तम गति को सिद्ध करें। जिस समय क्षपक तीव्र वेदना से युक्त जान पड़े उस समय उसे इस रीति से उत्साहित करना चाहिए।

धण्णोसि तुमं सुज्जस लहिऊणं माणसं भवं
स ा र ।
कयसंजमेण लद्धं सण्ण से उत्तमं मरणं॥

चन्द्रमा के समान पवित्र कीर्ति के धारक क्षपक ! तू धन्य हैं, क्योंकि भवों में सार मनुष्य भव प्राप्त कर तूने संयम पूर्वक उत्तम सन्यास मरण प्राप्त किया, तेरा शरीर सन्यास मरण से छूट गया है।

भावार्थ—मन बड़ा चंचल है। जरा सा दु:ख आ जाने पर ही यह चंचल हो उठता है इसलिए ग्रंथकार को शिक्षा है कि जिस समय क्षपक तीव्र वेदना से युक्त जान पड़े उस समय उसे इस रूप से उत्साहित करना चाहिए। हे क्षपक! तू ही संसार में धन्य है और प्रशंसा के योग्य हैं क्योंकि संयम को आराध कर सन्यास पूर्वक मरण करना उत्तम तप है। सो तूने उत्तम मनुष्य पाकर और संयम की आराधना कर सन्यास के आलम्बन से उत्तम मरण पाया है। ठीक भी है जो पुरुष आत्माराधनपूर्वक तप तपता है वह अति उत्तम गिना जाता है। क्योंकि—

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्दृब्ध्वा श्रुतं पुण्यतो।
वैराग्यं च करोति य: शुचि तपो लोके स एक: कृती॥
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानं समामीयते।
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयैर्हेमैस्तदारोपित:॥

पवित्र कुल में जन्म और मनोज्ञ शरीर पाकर एवं शास्त्र के रहस्य को जान कर जो पुरुष वैराग्य धारण करता है और पवित्र तप करता है वह मनुष्य

संसार में एक ही पुण्यवान गिना जाता है तथा यदि वही पुरुष अपने बड़प्पन का कुछ भी ख्याल न कर ध्यान का आलम्बन करता है तो समझना चाहिए उसने मनोज्ञ प्रासाद के ऊपर मणिजड़ित सुवर्णमय कलशों का आरोपण कर दिया, अर्थात् उसके बराबर कोई भी अन्य पुरुष भाग्यशाली नहीं है। इसलिये आत्माराधनपूर्वक सन्यास मरण आदि तपों का विद्वानों को अवलम्बन करना चाहिए। क्षपक को शारीरिक और मानसिक दु:ख अवश्य होता है। यह बतलाते हैं—

किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स।
खवयस्स हवइ दु:खं तक्काले कायमणुहूयं॥

उपवास की तीव्र वेदना के कारण जिस समय शरीर कृश हो जाता है उस समय चेष्टा रहित और निर्बल क्षपक को अवश्य शारीरिक और मानसिक दु:ख भोगना पड़ता है।

भावार्थ—सिर, कान, नेत्र आदि में तीव्र वेदना, ज्वर के आवेश से शरीर जलना आदि शारीरिक दु:ख और यह घर मेरा है, स्त्री, भाई, लक्ष्मी आदि मेरे हैं इस प्रकार के संकल्प विकल्प मानसिक दु:ख हैं। जिस समय उपवास की तीव्र वेदना के कारण क्षपक का शरीर कृश हो जाता है, उस समय वह क्षपक शक्तिहीन हो जाता है और शरीर की निर्बलता के कारण हिलने-चलने आदि की चेष्टा भी नष्ट हो जाती है। इसलिये क्षपक को चाहिए कि वह विशुद्ध परमात्मा की भावना से वचन, मन, काय आदि कर्मों को भिन्न माने जिससे उसे दु:ख न मालूम पड़े। कहा भी है—

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं, पश्यतो विशददोधचक्षुषा।
तत्कृतेऽपि परमार्थवेदिनो, योगिनो न सुख दु:ख कल्पना॥

अर्थात् जो योगी परमार्थवादी है—विशुद्ध परमात्म स्वरूप का पूर्ण जानकार है उसे चाहिए कि वह अपने विशुद्ध ज्ञानरूपी चक्षु से समस्त कर्मों को सदा भिन्न देखे क्योंकि वैसा करने पर उसके दु:ख की कल्पना नहीं उठती। कर्म और आत्मा के भेद विज्ञान से शारीरिक और मानसिक किसी

प्रकार का उसे दु:ख नहीं सहना पड़ता। कठिन स्थान पर सोने से यदि किसी प्रकार का दु:ख मालूम पड़े तो उसे समभावों से सहन कर लेना चाहिए। कहा भी है कि–

पुटविडुवल्लि किच्चिनुरिगांर्जदोडा कनकक्के कूडिदा।
कुटिलते पोकुमे मलकलंक कदि कल्लचि कांतिसं॥
पुटदोल्गातमनु निलिसि निर्मलनागुवनेंब भव्यनु।
त्कट तपदुव्बेगल्किडिदोडे सिद्धिपुढे रत्नाकराधीश्वरा॥

हे रत्नाकराधीश्वर ! हे रत्नागार के अधिपति सिद्ध भगवान ! सोने को पिघलाने के लिये आंच पर रख दिया जाता है। अगर वह सोना अग्नि को देख कर भयभीत होगा तो सोने के अन्दर की मलिनता कैसे दूर होगी अर्थात् मलिनता दूर हो सकती है ? कदापि नहीं। इसी तरह कर्म रूपी कलंक को नष्ट करने के लिये आत्म रूपी कांति (प्रकाश) नाम की अग्नि लगा कर आत्म शुद्धि करने वाले भव्य जीव कठिन तपश्चर्या रूपी ताप से भयभीत होगा तो क्या उसके आत्म सिद्धि हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। इस प्रकार योगी यदि मन में विचार करके कि शरीर सम्बन्धी स्त्री आदि वस्तु के योग में रागद्वेष के लिये पूर्ण भयंकर युद्ध में या द्वेष के कारण ऐसे क्षणिक शरीर को प्राप्त करके मैंने छोड़ दिया है। भव रोग के मूल को जड़ से जलाने के लिये अत्यन्त घोर तपश्चर्या को प्राप्त करके एक शरीर छोड़ने के लिये, भयभीत हो जाऊँगा तो क्या कर्म रूपी कलंक कभी मिट पायेगा, अर्थात् नहीं। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! आने वाले उपसर्ग को धैर्य के साथ कर्म का सामना करो। इस प्रकार सद्गुरु का उपदेश है।

सत्पुरुष अनेक प्रकार के होते हैं–

जैसे गन्ने को मशीन में पेरने से रस निकलता है उसी प्रकार अगर मुनि को किसी भी आपत्ति का सामना करना पड़े तो वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता अर्थात् उस आपत्ति का सामना धीरज और वीरता से करता है। कहा भी है कि–

कडिदुडिद पिरिंदु जन्नदो-
ल्डसि रसगोड्डुं सुट्टोडं निजगुणमं॥
विडदु गड कर्बु पुरुषर-
विड्डुवरे निजगुणम नेनितु नोवेयदिदोडं॥57॥

अर्थ—जैसे गन्ने को तोड़ कर दो टुकड़े कर यंत्र द्वारा रस निकाल कर पकाने पर भी वह गुण को नहीं छोड़ता है परन्तु पुनः मधुर रस ही देता है। उसी तरह सत्पुरुष अपने ऊपर दुर्जन के द्वारा अनेक कष्ट दिये जाने पर भी अपने सद्गुणों को छोड़कर दुर्गुणों को नहीं ग्रहण करता है। यही सम्यक्त्व की महिमा हैं॥57॥

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने यही बतलाया है कि मुनियों पर दुर्जनों के द्वारा कितना भी उपसर्ग क्यों न हो वह अपने आत्म ध्यान से च्युत न होकर कभी भी विकार भाव को उत्पन्न नहीं होने देता है। जितना जितना कष्ट आता है उतना-उतना सहन कर कर्म की निर्जरा का कारण बना लेता है क्योंकि क्षमा गुण सबसे बड़ा है और प्रधान है। इसलिए महान साधु सबकी स्तुति करने योग्य होता है। जिस मुनि के अन्दर क्षमा गुण होता है वह सबकी स्तुति करने योग्य होता है। इसलिये आत्मा से भिन्न शरीर है, इस शरीर को जिन्होंने अलग माना है और आत्मा में रत हो गये हैं उनसे यदि कोई दुश्मनी करे तो भी वह क्षमावान मुनि शान्त रहता है। वह कभी भी अपने स्वरूप को छोड़ कर अपने परिणामों को क्रोध रूप नहीं होने देता। इस प्रकार वह मुनि पूर्व जन्म के कर्मों का फल समझ आये हुए उपसर्ग को सहन करता है।

जिस समय मुनि के ऊपर उपसर्ग आता है उस समय वह मुनि इस प्रकार सोचता है-हे मुनि! तू बारह अनुप्रेक्षा बाईस प्रकार की परीषहों के जय की भावना और महाव्रत की पच्चीस भावनाओं को भा कर उस उपसर्ग को जीतने का दृढ़ संकल्प करले। अर्थात् जब तेरे ऊपर कष्ट आवे, उस समय बारह अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करना ही योग्य है।

बारह अनुप्रेक्षा इस प्रकार हैं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व,

अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ, धर्म इनकी भावना करने से मन के अन्दर स्थिरता आती है और उपसर्ग सहन करने की दृढ़ता उत्पन्न होती है। आत्मा में स्थिरता लाने के ये ही साधन हैं। भाव सहित की जाने वाली आराधना और साधना का फल संसार भ्रमण है। इसलिए बिना भाव के आत्म सिद्धि नहीं हो सकती।

हे जीव ! भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है कि अपने शुद्ध आत्म तत्व का अपने हृदय में रुचि पूर्वक ध्यान करें। जब देव मनुष्य तिर्यञ्च आदि द्वारा उपसर्ग आवे उस समय ऐसा विचार करो कि जैसे उपसर्ग विजयी सुकुमार मुनि, वारिषेण, शिवभूति, सुदर्शनश्रेष्ठि उपसर्ग आया हुआ समझ कर आत्म चिन्तवन में रत होकर शुद्धात्म के प्रति अगाध श्रद्धान रख करके दृढ़ रहे और अन्त में उपसर्ग विजयी होकर उत्तम देव या मोक्ष गति प्राप्त की। इसी तरह हे जीव ! तू भी उपसर्ग को दृढ़ता से सहन करता हुआ आत्मा में स्थिरता लाने का पुरुषार्थ कर। और शुद्धात्म भावना के द्वारा उपसर्ग को दूर करने के लिये प्रयत्न कर, शत्रु और मित्र के प्रति समान भाव रख। ये ही परम साधु का कर्त्तव्य है। इससे संसार में सुख और शान्ति मिल सकती है और थोड़े ही समय में तू संसार का अन्त कर मोक्ष की प्राप्ति कर लेगा।

सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

सम्यक्त्वमे सकलगुणं सम्यक्त्वमे निखिलंसुखद निलयं मत्तं।
सम्क्त्वमे मुक्तिपथं सम्यक्त्वदि कूंडिनेगल्व तपमुद सफलं ॥58॥

अर्थ–तत्व श्रद्धान से युक्त सम्यक्त्व ही सकल गुण है, सम्यक्त्व ही संपूर्ण सुख की खान है, सम्यक्त्व ही मुक्ति का मार्ग है। सम्क्त्व सहित किये जाने वाले तप ही फलीभूत होते हैं ॥58॥

विवेचन–आचार्य ने यहाँ सम्यग्दर्शन की महिमा को संसार में सबसे महान बताया है। सम्यक्त्व के बराबर इस जीव को संसार में सुख और शान्ति देने वाला दूसरा कुछ नहीं है। इसलिये जो जीव सम्यक्त्व सहित व्रत, तप आदि ग्रहण करता है उसका जीवन यथार्थ में आत्म हित की प्राप्ति कर लेता है। कहा भी है कि सम्यक्त्व सहित दान-पूजा करने वाला जीव इस

लोक और परलोक में अनेक प्रकार की सुख-सामग्री को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन सहित जीव नव निधि का स्वामी बन जाता है और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। कहा भी है कि–

न सम्यक्त्व समं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम्॥34॥रत्न.श्रा.

प्राणी मात्र के लिये सम्यक्त्व के अतिरिक्त कल्याण करने वाला अन्य कोई पदार्थ तीन काल और तीन लोक में नहीं हैं और मिथ्यात्व के समान अहित करने वाला अन्य पदार्थ दूसरा कोई नहीं है।

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारक तिर्यङ्नपुंसक स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल विकृताल्पायुः दरिद्रतां च व्रजन्ति नास्य वृतिका:॥35॥रत्न.श्रा.

जिनके सम्यग्दर्शन शुद्ध हैं व्रत रहित होने पर भी उनके लिए नरक गति, तिर्यञ्च गति, नपुसंक गति, स्त्री पर्याय, नीच कुल में जन्म, विकृत शरीर, अल्प आयु, दरिद्रता आदि को कभी भी प्राप्त नहीं होता है। यह सारी सम्यग्दर्शन की महिमा है।

ओजस्तेजोविद्या वीर्ययशोवृद्धि विजयविभवसनाथा:।
महाकुला महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता:॥36॥रत्न.श्रा.

सम्यग्दर्शन से युक्त जीव शक्ति, तेज, विद्या, पराक्रम, कीर्ति, कुटुम्ब, वात्सल्य आदि वृद्धि करने वाले वैभव, विजय, उत्तम कुल, ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त होकर सब मनुष्यों में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त

अष्टगुण पुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टा: प्रकृष्ट शोभा जुष्टा:।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्र भक्ता:स्वर्गे॥37॥रत्न.श्रा.

सम्यक्त्व से युक्त प्राणी जिनेन्द्र भक्त स्वर्ग की देवागंनाओं की सभा में चिर काल तक रमण करता है। और वह आठ ऋद्धि की पुष्टि से सन्तुष्ट होकर उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त होता है। तदनन्तर शेषायु पूर्ण करके कर्म भूमि में प्रवेश करता है तब उत्तम कुल में जन्म लेता है और उसे पूर्व जन्म की सम्यक्त्व आराधना के कारण ही सुख प्राप्त होता है।

नविनिधि सप्तद्वय रत्नाधीशाः सर्वभूमिपतियश्चक्रम।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्ट दृशा छत्रमौलि शेखरचरणाः ॥38 ॥रत्न.श्रा.

सम्यग्दर्शन से युक्त जीव नव निधि और चौदह रत्न का अधिपति होता है। सम्पूर्ण पृथिवी के अधिपति चक्रवर्ती के चक्रों को चलायमान करता है। और मुकुटबद्ध राजा महाराजा उसके चरण की सेवा करते हैं और उनके चरण में मस्तक झुकाते हैं।

अमरा सुरनपतिभिर्यमधर पतिभिश्च नूतपादाम्जा।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्थाः वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥39 ॥रत्न.श्रा.

जिस तीर्थंकर के चरण कमलों को स्वर्ग में रहने वाले देवता लोग, पाताल में रहने वाले असुर लोग, कर्म भूमि में रहने वाले चक्रवर्ती, गणधर देव आदि नमस्कार करते हैं जिनकी शरण सभी लेते हैं और जो पदार्थ को अच्छी तरह से जानता है ऐसा तीर्थंकर पद भी सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त होता है। ऐसा समझना चाहिए। इसलिये आचार्य ने सम्यग्दर्शन की महिमा को यहाँ बताया है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव संसार में इस लोक में, परलोक में किसी प्रकार का भय नहीं करता। उभय लोक में बिना तकलीफ के आयु को पूर्ण करके सम्यग्दर्शन की आराधना कर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कर लेता है। इसके बारे में कहा भी है कि—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशंकम्।
काष्टागतसुख विद्या विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणा ॥40 ॥रत्न.श्रा.

सम्यग्दर्शन यु क्त जीवों को क्रोध रहित, जरा रहित, नाश रहित, प्रतिबन्ध रहित, शोक रहित, भय निःशंक रहित, निर्मल, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, वैभव से युक्त मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। इसलिए हे योगी ! सम्यग्दर्शन सहित आराधना करके इस संसार रूपी बन्धन से शीघ्र ही तर जा। बिना सम्यक्त्व के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस सम्यग्दर्शन से महापापी भी तर गये हैं। अंजन चोर, अनन्त मति, उद्दायन राजा, रेवती रानी, जिनेन्द्र भक्त वारिषेण, विष्णुकुमार और बन कुमार इस प्रकार ये सब तर गये हैं।

सम्यग्दर्शन सहित व्रत तप दान आत्मा के सुख का कारण होता है। इसलिऐ हे प्राणी! अगर तुझे संसार से मुक्त होना है तो सम्यक्त्व सहित आत्म आराधना कर। बिना श्रद्धान के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। कहा भी है कि—

श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा।
संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्रयज्ञानशुद्धिप्रदम्॥
निश्चिन्वन् नवसप्ततत्वमचलप्रासादमारोहतां।
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना॥

पहली आराधना सम्यग्दर्शन है। सच्चे आत्मश्रद्धान को तथा तत्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आगे कहे हुए सम्यक्त्व के फल को ध्यान में रखकर इस सम्यक्त्व को अपना हितकारी मानते हुए इसका आश्रय लेना चाहिए, इसे धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पर वस्तु का अनुराग छोड़ने का उपदेश देते हुए कहा है—

परमावदोलादरमुं परभावविवक्षेयुं परात्म स्थितियुं।
परभावदोलोल्त पमुं परमार्थमदल्लवेंदन ध्यात्मविदं॥59॥

अर्थ—पर वस्तु में अनुराग-परवस्तु के वर्णन करने की इच्छा, पर वस्तु स्वरूप में आसक्त होना, पर वस्तु में आसक्ति करना (उसी में भावना रखना) यह ज्ञानी जीव के लिए हानिकारक है। इसलिए हे योगी ! पर वस्तु में आसक्ति रखना तेरे लिये योग्य नहीं है। ऐसा अध्यात्म ज्ञानी कहते हैं।

विवेचन—आचार्य ने पर वस्तु के मोह को हटाने को आदेश दिया है। जब तक पर वस्तु में यह आत्मा लिपटी रहती है तब तक इस आत्मा का सच्चा कल्याण नहीं होता। परवस्तु ही आत्म-घात करने वाली है। पर वस्तु ही संसार में इस जीव को परिभ्रमण कराने का कारण बनती है। इसलिये कहा भी है कि—

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम्।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षियवोरिव॥

तत्व ज्ञानियों ने कहा है कि कालकूट विष, और विषय सुख में मेरू पर्वत और सरसों के समान अन्तर है। कालकूट विष सरसों के समान है तब विषय सुख मेरू पर्वत के समान महा दु:खदाई है।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम्।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा॥

हे आत्मन् ! ऐसा जान कि विषयों के सुख प्राणियों को सेवते समय सुन्दर दिखाई देते हैं परन्तु उनका फल विष के समान कटुक होता है।

उदधिरुदकपूरै रिन्धनश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दंद्यात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्यै-
श्चिरश्मपि भुक्तेस्तृप्तिमायाति कैश्चित्॥

इस जगत में समुद्र नदियों से कभी तृप्त नहीं होता, अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती और कदाचित् दैवयोग से ये तृप्ति प्राप्त भी कर लें, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के कामभोगादिक भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता।

अपि संकल्पिता: कामा: संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्प्पति॥

मानवों को जैसे-जैसे इच्छानुसार भोगों की प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे ही उनकी तृष्णा बढ़ती हुई सर्व लोक पर्यन्त फैल जाती है।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिन: स्पर्शरुद्धा:।
बद्धास्ते वारिबंधे ज्वलनमोपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात्॥
भृंगा गंधोद्धताशा: प्रलयमपगता गीतलोला: कुरंगा।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि ततुभृतामिन्द्रियार्थेषु राग:॥

रसना इन्द्रिय के वश होकर मछली मरण को प्राप्त होती है, हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश होकर गढ्डे में गिराये जाते हैं व बाँधे जाते हैं, पतंगे नेत्र

इन्द्रिय के वश होकर आग की ज्वाला में जल कर मरते हैं, भ्रमर गंध के लालच में कमल के भीतर मर जाते हैं, मृग गीत के लोभी होकर प्राण गंवाते हैं। ऐसे एक-एक इन्द्रिय के वश प्राणी मरते हैं तो भी देहधारियों का राग इन्द्रिय विषय भोगों में बना ही रहता है।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यांति देहिनाम्।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हर्तदि विज्ञानभास्करः॥

जैसे-जैसे प्राणियों के वश में इन्द्रिय आती हैं वैसे-वैसे आत्मज्ञान रूपी सूर्य हृदय में ऊँचा-ऊँचा प्रकाश करता जाता है।

विषयों को न भोगकर छोड़ने वाले की भावना और उसका फल इस प्रकार हैं—

अंकिचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥

अर्थ—पर पदार्थ कभी अपना नहीं हो सकता। पर पदार्थ एकत्रित करने की भावना कितनी ही की जाय और कितने ही उपाय किये जायें, पर वे अपने निज स्वरूप में आकर मिल नहीं सकते। आत्मा-आत्मा ही रहेगी और पर पर ही रहेंगे। यह एक स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्त्त और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने-अपने निराले स्वभावों को रखने वाले माने गये हैं तो उनका एक दूसरे में मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई-जुराई होना असंभव बात है। जड़ चेतन का, मूर्त अमूर्त का मेल होना कठिन है वे एक दूसरे की भलाई-बुराई क्या करेंगे ? दूसरी बात यह कि आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है जो जड़ पदार्थों में असंभव हैं। शरीर से चेतना निकल जाने पर शरीर तुच्छ और फीका लगने लगता है। इसका कारण यह है कि शरीर जड़ है, इसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है ? शरीर में रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिन्ह है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि

आनन्द या सुख, ज्ञान के बिना नहीं होता। वह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का ही रूपान्तर है। तो फिर जड़ में वह कैसे मिल सकता है ? इसीलिए सुख की लालसा से जड़ विषयों का सेवन करना, उनसे सुख चाहना भूल है। तब ? केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिये उसी का ध्यान करो चिंतन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय। जब कि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवों को कुछ सुख का अनुभव होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बनने पर पूरा सुख क्यों न मिलेगा ? जब कि चेतना ही आनन्ददायक है तो जड़ पदार्थों में फँसने से आनन्द कैसे मिल सकता है ? क्योंकि, जड़ पदार्थों में फंसने से ज्ञान नष्ट या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे कि आनन्द की मात्रा घट जाना संभव है। जड़ पदार्थों में फँसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वंचित होता ही है इधर जड़ पदार्थों से कुछ मिलने वाला नहीं है इसलिए दोनों तरफ से घाटे में रहता है। उसे न इधर का सुख मिल पाता है न उधर का। यदि वही जीव सब तज कर अकेले आप को भजने लगे तो तीनों जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फिर शेष रहा ही क्या ? तब मानना चाहिए कि वह तीनों लोक का स्वामी बन चुका।

जब कि यह जीव झगड़ा छोड़कर आत्म ज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार से अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस लोक श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे बड़ा और तीनों लोक का स्वामी कौन होगा ? कोई नहीं। उस समय ही तीन लोक का स्वामी बन जायेगा क्योंकि जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है। जब जीव तीनों लोक के एकमात्र सार सुख आत्मानन्द को भोगने लगा तो वह तीनों ही लोक का स्वामी हो चुका। कहा भी है कि विषयों में रत हुआ जीव गुण और दोष को देखता नहीं। छत्र चूड़ामणि में कहा भी है कि—

विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥10॥

अर्थ—जो मनुष्य विषयभोग में आसक्त हो जाता है, उसके प्राय: सभी गुणों की इतिश्री हो जाती है अर्थात् ऐसे मनुष्यों में विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि एक भी गुण नहीं रहता।

राजा सत्यंधर ने विषय भोगों में आसक्त होकर अपने राज्य को काष्ठांगार को देकर अन्त में अनेक प्रकार की आपत्तियों को न्यौता दिया और उसी में मरण करके संसार में परिभ्रमण करता रहा। इसी तरह संसार में जितने भी जीव आज दुर्गति को प्राप्त हैं ये सभी पर पदार्थ में आसक्त हैं इसलिये दु:ख उठा रहे हैं। इसीलिए हे जीव ! अगर तुझे सच्चा आत्म कल्याण करना है तो पर द्रव्य का त्याग कर। चारुदत्त श्रेष्ठी ने विषयान्ध होकर अनेक प्रकार की तकलीफ उठाई यह कथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। सगर चक्रवर्ती ने मनुष्य पर्याय प्राप्त करके पूर्व भव में मुनि पद को धारण किया था और अत्यन्त कठोर तप भी किया था किन्तु अन्त में निदान बन्ध कर लिया कि मैं इस भरत क्षेत्र में अयोध्या नगरी में षटखण्ड पृथ्वी का नायक बनूँ। इस तरह निदान बन्द करके वह सगर चक्रवर्ती बना और अनेक काल तक संसार में विषय सुख में मग्न बना रहा। अन्त में देव ने आ करके उसे संबोधन कर विषय भोग से अलग करके संसार में छुड़ा दिया। इसलिये संसार में पर वस्तु का राग इस जीव को दु:खदायी है। इसलिए पर वस्तु के राग को छोड़ करके शुद्ध आत्मा के भागी बनो। आत्म स्वरूप में अनुराग करने से ही आत्मा की प्राप्ति हो सकती है। कहा भी है कि—

निजभावदोळादरमुं निजभावाविवक्षयुं निजोत्तमगुणमुं।
निजभावदोळेळ्तपमुं निजरूपमे नियमवेंदनध्यात्मविदं॥60॥

अर्थ—आत्म स्वरूप में अनुराग, आत्म स्वरूप का वर्णन और आत्म स्वरूप की भावना करना ही उत्तम तप कहलाता है। वही आत्म कल्याण के लिये यथार्थ है, इसी को ज्ञानी जीव को करना चाहिए। ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं॥60॥

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने आत्म तत्व का वर्णन करने का उपदेश दिया है। जिसको इस संसार में शीघ्र ही सुख प्राप्त करने की इच्छा है। उस योगी को आत्म तत्व की ही भावना करनी चाहिए ऐसा उपदेश दिया गया है।

पद्मनन्दि आचार्य ने एकत्वभावना में कहा है कि—

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वातिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः॥
स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः॥

जो कोई अपनी आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परम पदार्थ शांत स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जानकर आत्मा में स्थिर तिष्ठता है वही मोक्षमार्ग में चलने वाला है, वही आनन्द रूपी अमृत को भोगता है, वही पूजनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर है।

जो जो वस्तु या अवस्था पर के संयोग से आई वह सब मुझसे भिन्न है उन सबको त्याग देने में मैं मुक्त हूँ, ऐसा ज्ञानी विचारता है। क्रोधादि कर्मों के संयोग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्म ज्योति विकारी नहीं होती है, जैसे विकार करने वाले मेघों से आकाश विकारी नहीं होता है, ऐसा निश्चय आत्मा का स्वरूप है। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है सो ही पवित्र सम्यग्दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है। वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है। सज्जनों के लिये वही एक शरण का स्थान है। चिदानन्द स्वरूप आत्मा है सो ही एक उत्कृष्ट तत्व है, सो ही एक परम पद है, सो ही भव्य जीवों के द्वारा आराधने योग्य है, सो ही एक परमज्योति है। संसार रूपी आतप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिये वह चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही हिमालय के समान शीतल यंत्रधारा-गृह है अर्थात् फव्वारों का घर है। चिदानन्द स्वरूप आत्मा

है, सो ही महान् विद्या है, सो ही प्रकाशमान मंत्र है तथा वही संसार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है। ज्ञानी विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, और कुछ नहीं हूँ। मेरा किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा ऐसा दृढ़ निश्चय है। ज्ञानी शरीरादि बाहरी पदार्थों की चिंता के सम्बन्ध से रहित होकर शुद्धात्मा में चित्त को स्थिर करता हुआ निरन्तर विराजता है।

तपश्चरण की आराधना के बारे में आत्मानुशासन में कहा है कि—

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम्॥111॥

मनुष्य पर्याय का मिलना अत्यन्त कठिन बात है पर है यह अत्यन्त अपवित्र और सुखरहित। इस पर्याय से अधिक देवादि पर्यायों में सुख प्राप्त होते हैं इसलिये यह सुख का जनक पर्याय भी नहीं कहा जा सकता है। दूसरे, इस पर्याय में विपत्ति इतने प्रकार की भोगनी पड़ती हैं कि इस पर्याय को भी जीव भारभूत समझने लगता है। और सचमुच ही इसमें दुःखों के सिवा है ही क्या ? मरने के समय तक की खबर नहीं रहती कि कब किसका मरण होगा। इसलिए और भी यह एक चिंता मनुष्यों के पीछे सदा लगी ही रहती है। पूरा जीवनकाल ही एक तो बहुत थोड़ा, पर उसके भी बीच में ही मरण हो जाने का भी भरोसा नहीं है। परन्तु तपश्चरण इसी पर्याय में हो सकता है और मुक्ति तप के बिना होती नहीं है। तो फिर यदि मुक्ति प्राप्त करना हो तो मनुष्य पर्याय पाकर के तप करना ही चाहिए।

भावार्थ—मुक्ति के बिना निश्चित सुख कहीं कभी किसी को नहीं मिल सकता है और वह सुख प्राप्त करना सभी को इष्ट है। तो फिर तप के द्वारा कर्मों का नाश करके मुक्ति सुख इस मनुष्य भव को पाकर क्यों न प्राप्त कर लेना चाहिए क्योंकि, मनुष्य भव के बिना तप नहीं हो सकता और तप के बिना कर्म नहीं जल सकते, जो कि मुक्ति होने से रोकने वाले हैं। यह मनुष्य भव भी बार-बार मिलने वाला नहीं है। अब तप न किया तो फिर कुछ नहीं हो

सकेगा। समुद्र में डाली हुई सरसों कदाचित् फिर भी हाथ लग सकेगी, पर मनुष्य भव गया हुआ फिर सहज तो क्या, अति क्लेश करने पर भी जल्दी हाथ न लगेगा और इस भव में ऐसी कोई बात नहीं है कि जिसके लिये तप छोड़ दिया जाये। अपवित्र मलमूत्र, रक्त माँस वगैरह का यह पिण्ड है। क्षुधा, तृषा, रोग, शोक आदि दु:ख इसके साथ लगे हुए हैं। इसके जीने का क्षण भर का भी पक्का भरोसा नहीं है। चाहे जब शरीर से चेतना निकल जाती है। असली आधार जो आयु कर्म है, वह तो किसी को जान ही नहीं पड़ता है कि कब ख़त्म होने वाला है। पर वह कर्म बना रहते हुए भी रोग, वेदना, शस्त्राघात, विष आदि क्षुद्र कारण मिल जाने पर शरीर की स्थिरता नष्ट हो जाती है। नारकीयों तक का शरीर नियत समय पूरा होने पर ही छूटता है, पर मनुष्य के शरीर का कुछ भी भरोसा नहीं है। जब कि मनोरंजक सामग्री पवित्र नहीं, सुखजनक नहीं और इसके नाश का भरोसा नहीं, तो फिर किसके लिये इसमें प्रेम किया जाय और तपश्चरण द्वारा प्राप्त होने वाला निराकुल, निश्चल सुख क्यों न प्राप्त कर लिया जाये ? इस प्रकार देखने से मालूम होगा कि तप करने से ही इसका पाना संभव है, नहीं तो इसका पाना दुर्लभ और निस्सार है।

परदेहादि पर विश्वास रखकर चलने वाले अज्ञानी जीव को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है ऐसा बतलाते हैं।

परतत्वदभावनेयोकु परणमिसियेवर्ति सुत्तु मिप्पममोघं॥
परमपदवेयदलारदे तिरूगुं शुभमशुभ मेनिय परिणतेयिंदं॥61॥

अर्थ—देह आदि पर द्रव्यों पर विश्वास रखकर चलने वाला यह अज्ञानी मानव कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है। अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार सुख और दु:ख का अनुभव करता हुआ सदा संसार में ही भ्रमण करता रहता है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बताया है कि शरीरादि के मोह से यह जीव अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। जब तक शरीरादि पर वस्तु पर ममत्व का भाव रहेगा तब तक मोक्ष की प्राप्ति इस जीव को अत्यन्त

दुर्लभ है। इसलिये आचार्य ने समझाया है कि अज्ञानी प्राणी ! शरीरादि को ही अपनी आत्मा मानकर ममत्व के कारण तू शुद्धात्म तत्व से वंचित रहा। तूने जिन्हें अपना माना है, वे तेरा कल्याण करने वाले नहीं है। ये केवल क्षणिक सुख देकर अन्त में तुझे महादु:खमय गड्ढे में पहुँचाने वाले हैं। इसलिये कहा है कि हे जीव। तू आशा को ठुकराने का उपाय कर।

आयातोस्यतिदूरमंग परवाशानाशासरित्प्रेरितः।
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः॥
स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-
ग्राहव्यात्तगंभीरवक्त्रविषमे मध्य भवाब्धेर्भवेः॥

अरे भाई, तू पराधीन बनकर आशा रूपी नदी के बीच प्रवाह में पड़ा हुआ बहुत दूर से बहता चला आ रहा है अर्थात् अनादिकाल से यों ही भ्रमण करता आ रहा है। वह जो अभी तक भ्रमण होता आया है उसका कारण यही है कि तू यह नहीं समझता था कि मैं ही अपने सामर्थ्य से स्वतंत्र होने पर इसको तय सकता हूँ। अब भी तू परवस्तुओं से ममत्व छोड़कर सावधान हो, अपने स्वरूप को संभाल, देख किसी के अवलम्बन बिना, आप ही तू पार हो जायेगा। नहीं तो यदि अब भी सावधान न हुआ तो, परिपाक से दु:खदायक कालरूप ग्राह जिसने गहरा मुख फाड़ रक्खा है और जो अत्यंत भयंकर है, उसके मुख में शीघ्र ही जा पड़ेगा।

वहाँ जाकर फिर निकलने की तो क्या आशा है कि कब निकलेगा, अथवा निकलेगा भी या नहीं ? क्योंकि, संसार समुद्र का असली भयस्थान निगोद है, जहाँ से कि फिर निकलने के लिये कोई उद्योग काम ही नहीं देता। जैसे कोई मनुष्य किसी तीव्र वेग से बहने वाली नदी के बीच में पड़कर बहुत दूर से बहता आ रहा हो तो वह जब तक समुद्र में आ न पड़ा हो तब तक यदि अपनी सुध संभालकर कुछ प्रयत्न करे तो उससे निकल सकता है नहीं तो उसके वेग में बहता-बहता जब समुद्र में जा पड़ा तो फिर वहाँ से क्या

निकलना होता है ? वहाँ तो अवश्य किसी विकराल ग्राह के मुख में पड़कर मरण ही पावेगा। इसी प्रकार एक संसारी जीव, जिसने कि चिरकाल से दुःखदायक योनियों में भ्रमण करते-करते मनुष्य पर्याय पा ली है, जहाँ कि चाहे जितना अपने कल्याणार्थ उद्योग किया जा सकता है, यदि वह कुछ न करे निगोदादि गतियों में पड़कर फिर चिरकाल तक वहाँ दुःख ही भोगता रहेगा, जहाँ कि अपने सुधार का कुछ भी उद्योग नहीं हो सकता। इसीलिए फिर वहाँ से निकलना अपने स्वाधीन नहीं रहता। इसलिए जो कुछ कल्याण करना हो वह अभी इस पर्याय में ही कर लेना चाहिये।

विषयभोग जूठन है, इसलिये उनमें आसक्ति करने का निषेध–

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद् भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्वं यथा॥
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहः संहतिवीरवैरिपुतनाश्रीवैजयन्ती हरेत्॥

अरे जीव, विषयासक्त मनुष्यों ने बड़ी उत्कंठा के साथ जिनको अनेक बार भोगा और निस्सार समझकर पीछे से छोड़ दिया, जूठन की कुछ भी ग्लानि न करके उन्हीं को तू आज प्रेम के साथ भोग रहा है कि जैसे ये विषय पहले कभी मिले ही न हों। यद्यपि इन भोगों की इच्छा पूर्ण होने के लिये चाहे तू कितनी ही बार क्यों न भोग, परंतु तब तक क्या शांति उत्पन्न हो सकती है जब तक कि अपराधरूप प्रबल अनेक शत्रुओं के सैन्य की विजयपताका के समान जो यह विषयाशा है इसे गिरा नहीं देगा। अर्थात्, जैसे शत्रु राजाओं का परस्पर जब संग्राम होने लगता है तब एक दूसरे की विजयपताका गिरा देने के लिये दोनों ही अनेक प्रयत्न करते हैं और जब तक एक ही वह पताका गिर नहीं जाती तब तक दोनों ही बड़े व्यग्र रहते हैं। इसी प्रकार तुझे जो यह दुराशा लगी हुई है उसे तू पापकर्मरूप शत्रुओं के सैन्य की विजयपताका समझ। जब तक यह पताका तुझसे गिराई नहीं जाती तब तक

पापरूप शत्रुओं की हार नहीं होगी और तब तक उनसे अशांति उत्पन्न होती ही रहेगी। वह अशांति तभी मिटेगी जब कि तू उस दुराशा को मिटा देगा।

आशा के वश रहने से और भी जो कार्य होते हैं, वे ये है—

भुक्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुभृशं।,
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणाः सर्वाज्जिघांसुर्मुधा॥
यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः।
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः॥

विषधर सर्प के तुल्य, अनेक भवपर्यन्त दुःख देने वाले भोगों के सेवन की अत्यन्त उत्सुकता धारण करके तूने आगे के लिये दुर्गति का बंध किया अतएव अपने उत्तर भवों को नष्ट कर दिया। और अनादिकाल से लेकर अभी तक मरण के दुःख भोगे तो भी तू उन दुःखों से डरता नहीं है, निर्भय हो रहा है। जिस जिस कार्य को श्रेष्ठ जनों ने बुरा कहा, उसी उसी को तूने अधिकतर चाहा और किया। इससे जान पड़ता है कि तेरी बुद्धि नष्ट हो गई और तुझे आगामी काल में सुखी होने की इच्छा नहीं है। इसलिए तू निन्दित कार्य करके अपने सर्व सुख को वृथा नष्ट करना चाहता है। ठीक ही है, काम क्रोध रूप बड़े भारी पिशाच का जिसके मन में प्रवेश हो जाता है वह क्या क्या नहीं करता है ? उसे हिताहित का विवेक कहाँ से रह सकता है ?

विषयों की क्षणिकता दिखाते हैं—

श्वो यस्याजनि यः सएव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते,
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम्।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं,
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि॥

अरे भाई, जो दिवस जिसके लिए आने वाला था वही दिवस उसी के लिए कुछ समय बाद बीता हुआ हो जाता है। यह बात, क्या तू भ्रम दूर करके साक्षात् अपने ही मित्रों से नहीं देख रहा है, जो कि तू इन्हीं क्षणभंगुर

स्त्री-पुत्रादिकों में फिर-फिर से अत्यन्त आसक्त होकर भटकता है ?

भावार्थ—सभी वस्तुयें क्षण-क्षण भर में और से और हो जाती है। एक भी वस्तु क्षण मात्र के लिये भी स्थिर नहीं है। जगत भर की जड़ वस्तुयें काल वायु के वेग से नष्ट हुई हैं अर्थात्, जिस दिवस का एक समय प्रभात होता है उसी का थोड़े समय बाद अन्त हो जाता है, उसी प्रकार संसार की सभी चीजें क्षणभंगुर लोग क्षणनश्वर इन स्त्री पुत्रादिकों में ही अत्यन्त आसक्त होकर क्यों अपने आपको भूल रहे हैं ?

जग की क्षणभंगुरता न समझने से क्या होता है ?

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेप्युद्वेगकारिण्यलं,
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवास्ताम्।
तत्तावत् स्मर स्मितशितापांङ्गैरनंगायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत् प्राप्तवान् निर्धनः॥

अरे संसार में भ्रमते हुए तूने नरकादि गतियों में, जिनके स्मरणमात्र से भी अत्यन्त भय उत्पन्न होता है ऐसे जो दुःसह दुःख अभी तक भोगे उन्हें तो तू यों ही रहने दे, क्योंकि वे अब साक्षात् दीखते नहीं हैं परन्तु जैसे तुषार के पड़ने से छोटे-छोटे पौधे दग्ध हो जाते हैं उसी प्रकार काम के बाणों के तुल्य स्त्रियों की कामोद्दीपक मंद-मंद हँसी से तथा तीक्ष्ण कटाक्षों से विद्ध होते हुए जो तुझे दुःख प्राप्त हुए, एवं दरिद्रता के कारण जो दुःख तुझे हुए, उन सबों का तू स्मरण कर, वे तो अभी वर्तमान भव के हैं। हे जीव ! तू अनादि काल से विवेकशून्य ही रहा। इसीलिये तूने जग की क्षणिक माया में फंसकर अनेक बार नरकादि के तीव्र दुःख भोगे हैं। परन्तु वे सभी दुःख परभव सम्बन्धी होने से तूने विसार दिये हैं। खैर, अब वर्तमान ही अवस्था में निर्धनता के कारण जो अनेक तरह के कष्ट तथा तिरस्कारादि दुःख सहे हैं, एवं काम के वशीभूत होकर स्त्रियों के तीव्र ताप उत्पन्न करने वाले कटाक्ष देख कर जो तीव्र वेदना निरन्तर सही है, उन्हीं को तू विचार। इनके विचारने से ही तुझे जग की निस्सारता समझ पड़ेगी।

विषय सामग्री मिलने पर भी सुख का अभाव दिखाते हैं–

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः॥

मोह के वश जीवों का शरीर सूख जाता है, मरण भी हो जाता है, और निरन्तर मन में रागद्वेष रूप दाह जाज्वल्यमान बना ही रहता है इसलिये मोह को विवेकी साधुओं ने एक तरह ही अग्नि कहा है। परन्तु यह अग्नि से भी बढ़कर है। अग्नि और ईंधन का सम्बन्ध जब तक रहता है तभी तक वह जलती है, प्रदीप्त रहती है। ईंधन नहीं रहा कि बुझ जाती है, परन्तु मोहाग्नि तथा परिग्रह, विषयरूप ईंधन रहने पर भी जाज्वल्यमान होता है। जब कुछ थोड़ा सा विषय भोग मिल जाता है तो फिर उससे अधिक चाह होती है। उतना भी मिल जाता है तो फिर उससे अधिक की तृष्णा बढ़ती है यहाँ तक कि चक्रवर्ती की सम्पत्ति मिल जाने पर भी विषयासक्त कितने ही मनुष्यों को सन्तोष नहीं होता। वे चाहते हैं कि इससे भी अधिक जो कि जीवमान को असम्भव है उनकी प्राप्ति हमें हो। ऐसे तीव्र विषयी जीव उसी आसक्ति में मर तक जाते हैं। जिनके पास कि विषय भोग हैं ही नहीं उनकी दु:खित स्थिति तो जग जाहिर है। दूसरी बात यों भी है कि जो धनवान हैं वे धन के रक्षण में निरन्तर दु:खी बने रहते हैं, उन्हें सदा धन की सब तरह से रक्षा करने में ही दिन रात बिताने पड़ते हैं। चोर, डाकू, ईति, भीति, राजा, भागीरथ, बन्धु, अग्नि, अड़ौसी-पड़ौसी आदि सभी धन के भक्षकों से उन्हें रक्षा करनी पड़ती है। जो निर्धन हैं वे नया धन कमाने में सदा व्यग्र बने रहते हैं, उन्हें पेट भरने तक की चिन्ता शल्य की तरह सदा चुभा करती है। किसी ने ठीक कहा है–"धन बिना निर्धन दु:खी तृष्णावश धनवान, कोई सुखी नहीं जगत में सब जग देखा छान।"

ममता ही संसार के लिये कारण है इसलिये हे जीव ! परवस्तु के मोह को छोड़कर नित्य निरंजन आत्मानन्द का अनुभव करो।

लोक में एक कथा प्रसिद्ध है।

किसी जंगल में कोई एक साधु आत्म से लगे हुए आसन लगा कर स्थिर बैठे थे, अर्थात् आत्म ध्यान में लीन थे। एक समय उनके पास एक चूहे ने आकर नमस्कार किया। उसका नमस्कार करने का कारण यह था कि उसको पूर्व जन्म के संस्कार अर्थात् वह पूर्व जन्म में धन के आर्तध्यान में मरकर चूहा बना था। उस साधु को देखकर उसके संस्कार जागृत हुए, इससे उसने महात्मा के पास आकर आनंद से मस्तक झुका कर नमस्कार किया। इससे वह साधु उस चूहे पर प्रसन्न हुआ और बोला—हे चूहे! तेरे नमस्कार से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है, मैं तुझे मनुष्य पर्याय में या देव पर्याय में जन्म लेने का उपाय बताऊँ या सेठ साहूकार होने का उपाय बताऊँ या बना दूँ या सूर्य चन्द्र, भुवनपति, या देव आदि बना दूँ। अगर तुझे मनुष्य बना दूँ तो धर्म की आराधना का महा साधन प्राप्त होता है। उस साधु का वचन सुनकर वह चूहा कहने लगा कि हे महात्मा! मुझे श्रीमंत बनने की इच्छा नहीं है। परन्तु एक अत्यन्त सुन्दर रूपवती चुहिया मिले ऐसा मुझे आशीर्वाद दें। अगर इतना मुझे मिले तो बड़ा आनन्द होगा और मेरा संसार सुख रूप बनेगा। इस तरह उस चूहे के वचन सुनकर महात्मा कहने लगा कि अरे चूहे ! चुहिया की जो तूने माँग की है, इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। अन्य कुछ माँग उसकी प्राप्ति का उपाय बताऊँगा। इसके उत्तर में चूहे ने कहा कि नहीं मुझे किसी और वस्तु की आवश्यकता नहीं, सिर्फ एक रूपवती सुन्दर चुहिया मुझे चाहिए। तब महात्मा समझ गया कि अज्ञानी, मोही बहिरात्मा जीव का यही स्वभाव होता है, इसलिए अपनी वासना के अनुसार ही ये आशीर्वाद माँगते है।

इसलिये ग्रंथकार कहते हैं—देहादि पर वस्तु में लीन हुए जीव सुन्दर स्त्री और सम्पत्ति आदि के विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त होकर इस संसार रूपी सागर में डूबते हुए अनेक कष्ट उठा रहे हैं, और इतने दु:ख होने पर भी संसार से तर जाने की इच्छा नहीं करते हैं। इसीलिए श्री गुरु कहते हैं—अरे योगी! तुझे संसार रूपी समुद्र तर जाने के लिए मनुष्य पर्याय तो प्राप्त हुई है,

इसलिए श्री गुरु से तर जाने का ज्ञान सीख ले। यह सुवर्ण अवसर तुझे बार-बार मिलने वाला नहीं है।

तू अत्यन्त सुन्दर रूपवान स्त्रियों में जितना-जितना आसक्त होता जाता है। उतना परिग्रह पिशाच तेरे पीछे पड़कर तुझे हैरान कर देता है और जितने पुत्रादिक उत्पन्न करता जायेगा, उतना ही तुझे ज्यादा दु:ख उठाना पड़ेगा इसलिए हे जीवात्मन्! अब तू अपने दिल में एकाग्र होकर सोच ले और अपनी आत्मा को इस विषय वासना से छुड़ाकर अपने असली स्वरूप में प्रति लगा। इससे तेरा कल्याण होगा। और कोई कल्याण मार्ग नहीं है।

इसलिये हे जीव! जिसके ऊपर मोह करके आज तक अपने निजात्म स्वरूप को नही पाया, ये सभी पुत्र, स्त्री आदि कर्मों के आधीन हैं और ये तेरा कल्याण करने वाले नहीं है। केवल तुझे मोह उत्पन्न कराके संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं और अन्त समय में तेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। कहा भी है कि—

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न देवा।
न कांता न माता न भृत्या न भूपा: ॥
यमालिंगितं रक्षितुं संति शक्ता।
विचिंत्येति कार्य निजं कार्यमार्यै: ॥

जिस समय शरीर की आयु खत्म हो जाती है उसकी रक्षा करने के लिय उस समय न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण, न देव, न स्त्री, न माता, न सेवक न राजा कोई समर्थ नहीं होता। इस प्रकार विचार कर अपने कार्य में तत्पर रहो।

सतत निजरूप में रमण करने से कर्म का नाश होता है, ऐसा कहते हैं—

सततं निजात्मरूपद चिते योकिपंगे किडद कमर्मदुटें।
इंतिद नरिंयद मुनिजन रेतेय् दुवरय्यनंत सौख्यरूपदंवं ॥62 ॥

अर्थ—सदा ही अपने आत्म स्वरूप की भावना में रहने वाले ज्ञानी

जीव के क्या कर्म का नाश नहीं हो सकता? अर्थात् हो सकता है। इस तरह इस विषय को जानने वाले मुनि लोग अनंत सुख रूप मोक्ष पद को कैसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं? अर्थात् जरूर कर सकते हैं॥62॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि जो ज्ञानी मुनि संपूर्ण बाह्य विषय को छोड़कर केवल अपने आत्म स्वरूप में लीन होकर अपने अन्दर ही क्रीड़ा करेगा तो क्या उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होगी? अर्थात् जरूर होगी!

कितने भी शास्त्र पढ़े जाय, बिना वैराग्य के कर्मों की निर्जरा का कारण आत्म ध्यान नहीं हो सकता। जो ज्ञानी पुरुष संपूर्ण बाह्य वस्तु को त्यागकर अपनी आत्मा में रमण करता है वह शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा करके संसार से अर्थात् कर्म बंधन से छूट जाता है। इसलिये कहा भी है कि—

देविंदचक्कवट्टी, य वासुदेवा य भोगभूमीयां।
लोगेहि ण तिप्पंति हू, तिप्पदि भोगेसु किह अएणो॥

इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, भोगभूमिया भी जब भोगों से तृप्त नहीं हो सकते हैं तो और कौन भोगों को भोगकर तृप्ति पा सकेगा।

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भागरमणं परायत्तं।
भोगरदीए चइदो, होदि ण अज्झप्परमणेण॥

अध्यात्म में रति स्वाधीन है, भोगों में रति पराधीन है। भोगों से तो छूटना ही पड़ता है, अध्यात्म रति में स्थिर रह सकता है। भोगों के भोग में अनेक विघ्न आते हैं, आत्मरति विघ्नों रहित है।

भोगरदीए णासो णियदो विग्धा य होंति अदिवहुणा।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्धा वा॥

भोगों का सुख नाश सहित है व अनेक विघ्नों से भरा हुआ है, परन्तु भली प्रकार पाया हुआ आत्मसुख नाश और विघ्न से रहित है।

एगम्मि चेव देहे, करिज्ज दुःक्खं ण वा करिज्ज अरी।
भोगा से पुण दुक्खं करंति भक्कोडिकोडीसु॥

वैरी एक ही देह में दुःख करता है, परन्तु ये भोग इस जीव को करोड़ों जन्मों में दुःखी करते हैं।

णच्चा दुरन्तमध्दुव मत्ताणमतप्पयं अविस्सामं।
भोगसुहं तो तह्मा, विरदो मोक्खो मदिं कुज्जा॥

इन इन्द्रियों के भोगों को दुःख रूपी फल देने वाले, अस्थिर अशरण तथा अतृप्ति के कर्ता व विश्राम रहित जानकर ज्ञानियों को इनसे विरक्त होकर मोक्ष के लिये बुद्धि करनी चाहिये।

श्री पूज्यापादस्वामी इष्टोपदेश में कहते हैं–

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्यु द्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि॥6॥

संसारी प्राणियों को इन्द्रियों के द्वारा होने वाला सुख दुःख आदि कल की वासना सा भासता है। भ्रम से इन्द्रिय सुख, सुख दीखता है। ये ही इन्द्रियों के भोग व भोग्य पदार्थ आपत्ति के समय ऐसे भासते हैं, जैसे रोग। जब कभी संकट आ खड़े हो जाते हैं, तो स्त्री, पुत्रादि का संग भी बुरा मालूम पड़ता है। शोक के समय इष्ट भोग भी सुहाते नहीं।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः॥17॥

ये इन्द्रियों के भोग प्रारम्भ में ही बहुत संताप देने वाले हैं। उनकी प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। जब ये भोग समाप्त हो जाते हैं तब भोगते हुए तृप्ति प्राप्त नहीं होती है, तृष्णा बढ़ जाती है। उनसे वियोग होने पर बड़ा भारी दुःख होता है। ऐसे भोगों को कौन बुद्धिमान आसक्त होकर सेवन करेगा ? कोई नहीं।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥30॥इस्टो.

ज्ञानी विचारता है कि मैंने जगत के सर्व ही पुद्गलों को बार-बार मोह के वशीभुत हो भोगा है और त्यागा है। अब मैं समझ गया हूँ। मैं अब जूठन के समान भोगों की क्यों इच्छा करूँ ?

श्री पूज्यपाद स्वामी समाधि शतक में कहते हैं–

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहं।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥16॥

ज्ञानी विचारता है कि मैं अपनी आत्मा से छूटकर पांचों इन्द्रियों के द्वारा विषयों मं बार-बार गिरा हूँ। उनमें लिप्त होने से मैंने निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं पहचाना है। अब इनका मोह छोड़ना ही उचित है।

हे आत्मन्! यहाँ संसार में शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञान रूपी ज्योति को नष्ट करने वाले कर्म बन्ध रूप दोष की खान है। वह कर्म बन्ध राग और द्वेष के निमित्त से होता है। इसलिए मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर तू सर्व प्रथम शीघ्रता से यत्नपूर्वक उन दोषों को छोड़। हे आत्मन्! न तो तुम लोक के कोई हो और न लोक ही कोई तुम्हारा हो सकता है। हाँ, तुमने जो कुछ कमाया है, वही भोगना पड़ता है। तुम्हारा इस लोक के साथ भला क्या सम्बन्ध है अर्थात् कुछ भी संबंध नहीं है। फिर इस लोक के न होने पर विषाद और उसके विद्यमान होने पर हर्ष क्यों करते हो। इस प्रकार शरीर से रागद्वेष नहीं करना चाहिए क्योंकि वह जड़ है अचेतन है तथा शरीर से संबंधित इन्द्रिय भोग सम्बन्धी सुखादिक में तुम्हें रागद्वेष करना उचित नहीं है क्योंकि वह विनश्वर है। इस प्रकार निश्चय करके तुम अपनी आत्म शक्ति का अनुभव करो। इस संकटवर्ती लोक को स्थायी मत समझो। कुटुम्ब एवं धन धान्य आदि बाह्य पदार्थों का आत्मा से कुछ भी संबंध नहीं है। वे प्रत्यक्ष भी अपने से पृथक दीखते हैं। अतएव उनके संयोग में हर्षित और वियोग में विषण्ण होना उचित नहीं है। और तो क्या कहा जाय, जो शरीर आत्मा के साथ ही रहता है उसका भी सम्बन्ध आत्मा से कुछ भी नहीं है। कारण यह कि

आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन हैं इसी प्रकार इन्द्रियों का सम्बन्ध भी उस शरीर से है न कि उस चेतन आत्मा से। विषय भोगों से उत्पन्न होने वाला सुख विनाशीक है, स्थायी नहीं है। इसलिए हे आत्मन्! शरीर एवं उससे सम्बन्धित सुख-दुःख से रागद्वेष न करके अपने आत्म स्वरूप का अवलम्बन कर।

अपनी आत्मा में आप ही तन्मय होकर देखेंगे, तो अपने अन्दर ही परम विशुद्ध परमानंद परमात्मा मिलेगा, ऐसा कहते हैं।

नस्फ नस्फदान्मनोकात्मन्, नलसदे सले भाविसल्के दुरितव्रजमुं।
जलबुद्बुददंतप्पुदु, एले निनगिदुपेक्षेगेय्यलक्कुमें जीवा॥63॥

अर्थ--हे जीव! आनन्द के साथ नाचते-नाचते आत्मा में आत्मा को प्रमाद रहित होकर देख। यह दुष्कृत्य अर्थात् पाप समूह पानी के बुलबुले के समान क्षण में नष्ट होने वाला है, यह प्रतीत होता है। तब तू इस प्रकार आत्म चिन्तन करने की क्या उपेक्षा करेगा ? अर्थात् आत्म चिन्तन को छोड़ना नहीं चाहिए ऐसा इसका भावार्थ है॥63॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि हे योगी! तू सम्पूर्ण बाह्य वस्तु के मोह को त्याग कर अपने आत्म सम्मुख होकर अपने अन्दर ही अपने को अपने स्व उपयोग के द्वारा देख, तत्पश्चात् अपने स्व उपयोग के द्वारा अपने स्व स्वभाव को निरीक्षण करने पर यह आत्मा चिन्मय ज्योति रूप है ऐसा तुझे अपने अन्दर ही मालूम पड़ेगा। तब उसमें मग्न होकर अमृतमय आत्मानंद सरोवर में क्रीड़ा कर, बार-बार उसी अमृत का पान कर, निजात्म को पुष्ट कर, आत्म बल को बढ़ा। हे योगी, यदि यह अमृतमय आत्मानन्द रूपी रसायन का एक बार तू पान करेगा तो तेरे साथ लगा हुआ कर्म रूपी रोग क्षण भर में नष्ट होगा और सदा के लिये अखण्ड आत्मानन्द स्वराज्य का धनी बनेगा और सदा के लिये तेरी दरिद्रता दूर होगी। हे महाशय! तू अपने अन्दर भरे हुए रत्नों के खजाने को छोड़कर दुनिया के पहाड़, पत्थर, नदी, सरोवर, तीर्थक्षेत्र आदि में भ्रमण करके व्यर्थ ही कष्ट क्यों उठा रहा है ?

जरा तू पर पदार्थ की तरफ लगी हुई दृष्टि हटा कर अपने भीतर ही छिपी हुई रत्नत्रय निधि को ध्यान से देख तब पता लगेगा कि तीन लोक का सारा खजाना मेरे पास ही छिपा हुआ है। तत्पश्चात् बाह्य पदार्थ में दौड़ने वाला तेरा चंचल मन या पर में दौड़ने वाला उपयोग इसी में स्थिर हो जायेगा तब तुझे अजर अचल स्थिर निज शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी।

इस आत्मानन्द को आत्म ज्ञानी ही जान सकता है।

जब ज्ञानी भव्य जीव इस आत्मानन्द का स्वाद अपने अन्दर लेने लगता है। तब उसको इतना आनन्द आता है जैसे कोई गरीब व्यक्ति अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन से तृप्त होकर अन्त मे आनन्द से डकार लेता है और खाये हुए भोजन का स्वाद बार-बार स्मरण करके उसकी तारीफ करता है और इतर बाह्य पदार्थ को भूल जाता है। इसी तरह ज्ञानी भव्य जीव आत्मानन्द सुख अमृत का पान करते हुए उसमें मग्न होकर बाह्य विषय वासना को बिल्कुल भूल जाता है। उसी को गाता है, उसी की चर्चा करता है और उसी में मग्न होकर संसार बंधन में होने पर भी अपने को संसार से मुक्त हूँ ऐसी भावना करता है। वही योगी संसार के विषय भोगों से शीघ्र ही मुक्त होता है।

हे जीव् तू अनादि काल से आज तक अनेकानेक बाह्य विचित्र चित्रों को देखकर आश्चर्य चकित हुआ होगा। परन्तु तीन लोक को आश्चर्य चकित करने वाली अद्भुत वीतराग निर्विकल्प परम ज्योति तेरे ही पास है। उसे देखकर तू कभी आश्चर्य को प्राप्त नहीं हुआ है।

एक उदाहरण है कि किसी राजदरबार में किसी एक चित्रकार ने आकर राजा ने प्रार्थना की कि हे राजन्! मुझे मेरे योग्य कोई काम बताइये। राजा ने पूछा कि आप कौन है। इसके उत्तर में उसने कहा कि मैं चित्रकार हूँ। क्या आप चित्र बनाना जानते है ? जी हाँ! क्या आप दुनिया को आश्चर्य

चकित करने वाला चित्र बना सकते हो' ? मैं ऐसे चित्र बना सकता हूँ कि दुनिया उसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाय।' राजा ने पूछा—एक चित्र का क्या मूल्य होगा ? उसने कहा कि 'मैं एक चित्र का बीस हजार लूँगा। राजा ने मंत्री से कहा कि इसे बीस हजार रुपये दे दो। राजा ने यह भी पूछा कि चित्र कितने दिन में बनेगा तो उसने कहा कि छः महीने लगेंगे। 'अच्छा' कहकर राजा ने उसे विदा कर दिया। तत्पश्चात् एक दूसरा चित्रकार आया। उस व्यक्ति को देखकर राजा ने पूछा कि तू कौन है ? उसने कहा कि मैं विचित्रकार हूँ। अगर मुझे काम मिल जाय तो ऐसा चित्र बनाऊँगा जो सारे जगत को आश्चर्य चकित कर दे। राजा ने पूछा कि क्या मूल्य होगा ? उसने कहा कि मुझे किसी चीज की जरुरत नहीं है। कितने दिन लगेंगे। मुझे सिर्फ एक दिन चाहिए। और क्या चाहिए ? राजमहल की एक दीवार पर मैं चित्र खींचूँ, यह इजाजत मुझे मिल जानी चाहिये। राजा ने उसको एक साफ दीवाल बता दी। उसने कहा कि मेरे पास कोई उपस्थित न रहे। मै किवाड़ बन्द करके चित्र खींचूँगा। तब उसने कमरा बन्द करके उस दीवाल को साफ किया और नरम पत्थर लेकर घिसाई करना शुरू कर दिया। इस तरह वह दीवाल शीशे की तरह चमक गई। जब वह ठीक चमकदार बन गई तो उसने उसके ऊपर पर्दा डाल दिया और राजा को निमंत्रित किया कि सब बड़े लोगों को चित्र देखने बुला लें। जब राजा आया और उसने उस पर्दे को उठाया तो राजा का प्रतिबिम्ब उस शीशे की दीवाल में दिखाई देने लगा। सभी मंत्री वगैरह ने आकर देखा और कला की सराहना की। इसी प्रकार बाह्य जड़ वस्तु को मानव देखकर अनादि काल से चकित हो रहा है परन्तु निर्विकार और अरूपी चित्र आज तक देखने में नहीं आये हैं। यह संसार में रत हुआ मोही जीव बाह्य चित्रों में, बाह्य वासनाओं में लुब्ध होकर अनादि काल से जड़ चित्रों को देख कर आश्चर्य चकित हो रहा है। अगर यह जीव इस शरीर के अन्दर रहने वाली आत्मा को संयम और तप के द्वारा घिसता जाय तो भीतर के ज्ञान, दर्शन, चेतनमय उपयोग मे परमज्योति परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। हे

जीव! यदि तू अपने अन्दर प्रवेश करके स्व और पर के ज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर को भिन्न करके ध्यान और समाधि के बल पर दर्शन करे तो तू ही एक दिन सच्चिदानन्द वीतराग परमात्म बन सकता है। इस प्रकार श्री गुरु ने बार-बार समझाया है।

अब आगे मन वचन काय में विषय वासना को त्यागने का उपदेश देते हैं।

संद मनवचनकायद दुंदुगदोंदकवनुळ्दु सुखमेनितिकुं॥
कुंददे सुमोघ दर्शन दंदमे चिन्तामत्रमेंदु भाविसु जीवा॥46॥

अर्थ—हे जीव! मन, वचन और काय के आधीन न होकर शरीर से भिन्न जो आत्मा का स्वरूप है वही सुख रूप है। ज्ञान दर्शनमय है, अनंतगुण का भण्डार है परिपूर्ण है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप है। वही चित् स्वरूप है। वही मेरा स्वभाव है। ऐसा तू मन में निश्चय करके उसका चिन्तन कर और अन्य पर वस्तु के चिन्तवन करने से तुझे क्या लाभ है॥64॥

विवेचन—इस श्लोक में ग्रंथकार ने मन, वचन काय के द्वारा विषयवासना को दूर हटाकर केवल सच्चिदानन्द रूप अपने स्व स्वरूप का चिन्तवन करने का उपदेश दिया है।

विषय में फंसनेवाला "आप" आत्ममात्र भी सुख नहीं होता है। जैसे कि:

उग्रग्रीष्मकठोर धर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः।
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः॥
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः प्राप्प्रयासाकुल-
स्तोयोपन्त दुरन्तकर्दमगत्क्षीणोपक्षवत् क्लिश्यते॥

जैसे कोई बूढ़ा असमर्थ बैल पानी की इच्छा से जल के पास जाकर वहाँ के लम्बे चौड़े दलदल में यदि फँस जाय तो वह बाहर फिर निकल सकता

है ? नहीं। उलटा श्रम करने से खिन्न होगा और ऊपर से सूर्य की जो तीक्ष्ण किरणें पड़ेंगी उनसे अत्यंत दु:खित होगा और अंत में उसी में मर जायेगा। इसी प्रकार जीव भी बढ़ी हुई विषयतृष्णा के वश होकर सूर्य किरणों के समान कठोर तथा संतापकारी संपूर्ण इन्द्रियों से तप्तायमान होता हुआ अनेक तरह के अनवरत उपाय करने पर भी पूर्ण अभीष्ट को नहीं पाता तब पाप के उदयवश तथा अनेक श्रम करने के कारण अत्यंत खिन्न होता है। इसका कारण केवल यह है कि, असली सुखोपाय और अपना अभी तक भान नहीं हुआ है कि, मैं कौन हूँ और असली सुख कैसे मिल सकता है ? अज्ञानी की दशा सभी जगह ऐसी ही होती है।

विषयसामग्री मिलने पर भी सुख का अभाव दिखाते हैं–

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः।
ज्वलत्युभययाप्युच्चैरहोमोहाग्निरुत्कटः॥

मोह के वश जीवों का शरीर सूख जाता है, मरण भी हो जाता है, और निरंतर मन में रागद्वेष दाह बना ही रहता है। इसलिये मोह को विवेकी साधुओं ने एक तरह की अग्नि कहा है। परन्तु यह अग्नि में भी बढ़कर है। अग्नि में जब तक ईधन का सम्बन्ध रहता है तभी तक जलती है, प्रदीप्त रहती है। ईधन नहीं रहा कि बुझ जाती है, परंतु मोहाग्नि तथा परिग्रह, विषय रूप ईधन रहने पर भी जाज्वल्यमान होता है। जब कुछ थोड़ा सा विषयभोग मिल जाता है तो फिर उससे अधिक की चाह होती है। उसकी प्राप्ति पर उससे अधिक की तृष्णा बढ़ती है। यहाँतक कि चक्रवर्ती की संपत्ति मिल जाने पर भी विषयासक्त कितने ही मनुष्यों को संतोष नहीं होता। वे चाहते हैं कि इससे भी अधिक जो कि जीव मात्र को असंभव है उनको प्राप्त हो। ऐसे तीव्र विषयी जीव उसी आसक्ति में मर तक जाते है। जिनके पास विषयभोग हैं ही नहीं, उनकी दु:खित स्थिति तो जग जाहिरर है। दूसरी बात यह भी है कि जो धनवान् हैं वे धन के रक्षण में निरंतर दुखी बने रहते हैं, उन्हें सदा धन की सब

तरह से रक्षा करने में ही दिनरात बिताना पड़ता है। चोर, डाकू, ईति, भीति, राजा, भागीदार, बंधु, अग्नि, अड़ौसी-पड़ौसी आदि सभी धन के भक्षकों से रक्षा करनी पड़ती है। जो निर्धन हैं वे नया धन कमाने में सदा व्यग्र और व्यस्त रहते हैं, उन्हें पेट भरने तक की चिन्ता शल्य की तरह सदा चुभा करती है। किसी ने ठीक ही कहा है "धन बिना निर्धन दु:खी तृष्णावश धनवान्! कोई सुख न जगत में सब जग देखा छान।"

कहने का सारांश यह है कि हे भव्य जीव! तू इस संसार, विषयवासना का मन, वचन काय, से त्याग करके शुद्ध, अखण्ड, अविनाशी ज्योति जो शरीर में निरन्तर प्रकाशमान हो रही है उसके दर्शन कर।

बहुत कहने से क्या ? बुद्धिमान् मनुष्य को निर्मल योग की सिद्धि के लिये कर्म समूह से उत्पन्न हुई समस्त उपाधियों से रहित होकर एक मात्र समताभाव का ही आश्रय करना चाहिये। परमात्मा के नाम मात्र से ही अनेक जन्मों के एकत्रित पापों का नाश होता है तथा उक्त परमात्मा में स्थित ज्ञान, चारित्र और सम्यग्दर्शन मनुष्य को जगत का अधीश्वर बना देता है। जिस मुनि का मन चैतन्य स्वरूप में लीन होता है वह योगियों में श्रेष्ठ हो जाता है। चूँकि समस्त जीवराशि चैतन्यस्वरूप है अतएव उसे अपने समान ही देखना चाहिये। सब कार्यों की सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग योग से होती है। इसलिये योगी को निरन्तर प्रयत्न पूर्वक स्व और पर को समदृष्टि से देखते हुए रहना चाहिये। योग शब्द के दो अर्थ हैं—मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति और समाधि। इनमें मन, वचन और काय की प्रवृत्तिरूप जो योग है वह दो प्रकार के हैं—शुभ और अशुभ, इनमें शुभ योग से पुण्य तथा अशुभ योग से पाप की आस्रव होता है और तदनुसार जीव को सांसारिक सुख व दु:ख की प्राप्ति होती है। इन दोनों प्रकार के योग से शरीर का सम्बन्ध होने के कारण जीव को सांसारिक सुख व दु:ख की प्राप्ति होती हैं। यह दोनों ही प्रकार का योग शरीर से सम्बद्ध

होने के कारण बहिरंग कहा जाता है। अन्तरंग योग समाधि है। इससे जीव को अविनश्वर पद की प्राप्ति होती है। यहाँ ग्रन्थकर्ता ने स्व और पर में समबुद्धि रखते हुए योगी को इस अन्तरंग योग में स्थित रहने की ओर संकेत किया हैं

जो जाति और लिंग भेद की चर्चा में आसक्त है वह मुनि साम्यभाव को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है, ऐसा बतलाते हैं।

जातिय लिंगद समपद मातने माताडुतिर्य मुनिपन चितं॥
जातिय लिंगद समपदो कोतिकुं समतेयें बुदागदु नोड़॥65॥

अर्थ—जाति लिंग और सिद्धांत के बारे में भिन्न भिन्न भाव या अन्य कल्पना करने वाले, या सतत उसी में आसक्ति रखने वाले को साम्य भाव कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। जाति, वेष आदि बाह्य विषयों में आसक्त होकर रहने वाले मुनि के चित्त में साम्यभाव भी उत्पन्न नहीं होता ऐसा आचार्यों ने कहा है॥65॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि जो मुनि जाति, कुल, लिंग आदि में हमेशा आसक्त रहता है वह समभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये कहा है कि हे साधु! बाह्य शरीर जो पुद्गलमय है ऊँच नीच कर्म के अनुसार इस आत्मा के साथ प्राप्त हुआ है। जो जाति का अभिमान करता है। स्त्री लिंग, पुल्लिंग, नंपुसक लिंग आदि लिंग के प्रति हमेशा अभिमान करता है वह तेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा में न लिंग है, न जाति, न वेष, न गोत्र। वह निर्विकार, निरंजन, चित्स्वरूप अरूपी है। इसलिये तू जाति आदि बाह्य भावों को छोड़कर अपने अंतरंग जाति, गोत्र आदि रहित केवल एक आत्म का ही ध्यान कर अगर तू बाह्य शरीर, जाति या स्त्रीलिंग, पुल्लिंग इसके अभिमान में या उसी को अपना स्वरूप मानकर विषयासक्त होकर उसी को अपनी आत्मा मानेगा तो तुझे बार-बार इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। कहा भी है कि:—

गौरी रूपधरो दृढ़: परिवृढ़ स्थूलः कृशः कर्कशः।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना॥
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढ़ो विबुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम्॥

यहाँ आचार्य ने दिखलाया है कि आत्मा का स्वभाव अविनाशी है जब कि शरीरादि पदार्थ नाशवंत है। आत्मा ज्ञानमय है, जबकि शरीरादि जड़ हैं। आत्मा निर्मल वीतरागी है, जब क्रोधादि कर्म विकार रूप हैं। आत्मा सर्व आकुलता व दु:खों से रहित परमानन्दमय है, जब कि शरीरादि व क्रोधादि का संबंध जीव को आकुल व दु:खी करने वाला है। इस तरह आत्मा व अनात्मा का सच्चा स्वरूप जानकर भी मोही जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ मिथ्याभिमान के नशे में अपने को नाना भेष व रूप में माना करता है। व्यवस्थाएँ कर्म के निमित्त से हुई हैं उनको ही अपना माना करता है, अत: वह अपनी आत्मा के असली स्वभाव से गिर जाता है देव, मनुष्य, नारकी, पशु, स्त्री, पुरुष, नंपुसक, गोरा, सुन्दर, बलिष्ठ, मोटा, दुबला, कठोर, आदि सब पुद्गल की अवस्थाएँ हैं, जिस घर में आत्मा रहती है उस घर की अवस्थाएँ हैं। फिर भी मोही जीव अपने को उस रूप में मान लेता है और उसे आत्मज्ञान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो मानव आत्मोन्नति चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि भेद विज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप को अलग छाँट ले और जो अनात्मा है उसको अलग कर दे। इसी प्रकार के विचार से स्वानुभव की प्राप्ति होती है। यही स्वानुभव मोक्ष का बीज है। कहा है कि–

विप्रनल्लात्म क्षत्रियनल्लवैश्यन ल्लात्मामुख्यद शूद्धनल्ल।
विप्रमुंताद मुंताद संकल्पवातनुकूर्तु दीप्रहंसगे हेळुतिहरू॥
योगियल्लात्म ग्रहस्थानल्लरे योगि जोगिया सवण सन्यासि।
तूगे कळामुखि पाशुपातिगल्ल सो म्यागलिलवु कर्मचरित।
स्त्रीयल्ल स्त्रीयासेमाळ्प नल्ल संयत सांख्य मीमांसा।
नैयायिकार्हत मुंतादबेल्लिवु मायोपिंदाद माटगळु॥

यह आत्मा ब्राह्मण नहीं है, क्षत्रिय नहीं है, वैश्य नहीं है, शुद्र नहीं है यह सभी ब्राह्मणादि जितने भी नाम हैं सब शरीर के लिये हैं। आत्मा के नहीं। आत्मा योगी नहीं, आत्मा गृहस्थी नहीं, आत्मा भोगी नहीं, आत्मा श्रमण नहीं। आत्मा सन्यासी नहीं। आत्मा कलामुखी नहीं। पाशुपत नहीं, ये सभी कर्म के कारण हैं। आत्मा स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, पति नहीं, नंपुसक नहीं। मीमांसक नहीं। नैयायिक आर्हत आदि ये सभी कर्म के चारित्र है और संसार की मायासे अज्ञानी जीव इसी को अपना नाम मानकर संसार में भ्रमण करते हैं जाति जो है वह कर्म का नाम है और इसमें उच्च और नीच ऐसे जाति भेद हैं यह सभी पुद्गलमय है अचेतन है अर्थात् जड़ हैं आत्मा के लिंग नहीं। आत्मा न स्त्रीलिंग है, न पुल्लिङ्ग है न नपुसंकलिंग ये सभी नाम कर्म के भेद हैं। इसलिये हे अज्ञानी जीव! मैं स्त्री हूँ पुरुष हूँ इत्यादि संकल्प विकल्प करके अनादिकाल से अपने शुद्धात्म ज्ञान के बिना संसार में परिभ्रमण कर रहा है। हे जीव! तू पुद्गल कर्मकृत ख्याति के अहंकार से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कुल और जाति का जो योगी मद करता है, वह संसार में साम्यभाव के बिना महान् कष्ट को उठाते हुए चारों गतियों में भ्रमण करता है।

समभाव ही आत्मा का स्वभाव है ऐसा कहते हैं–

समचित्तमे परम पदं समचित्त में सकलसुखदनिलयं मतं॥
समचित्तमे मुक्ति पथं समचित्त से कूडि नेगळ्व तपमदु सफलं॥66॥

अर्थ–इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में समभाव का होना ही परम मोक्ष है। समभाव ही समस्त सुख का वास स्थान है। समभाव ही मुक्ति का मार्ग है। समभाव से युक्त तपश्चर्या ही सफल है। समभाव रहित तपस्या व्यर्थ है। ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य ने यहाँ इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में समान भाव रखना ही मोक्ष का पद बताया है। समभाव आत्मा का स्वरूप है। समभाव ही समस्त वस्तुओं का निवास स्थान है। समभाव मोक्षमार्ग है। इसलिए समभाव पूर्वक किया जाने वाला तप ही सार्थक है। जहाँ समभाव नहीं है वहाँ उनका करोड़ वर्ष तक किया हुआ तप निरर्थक है। समभाव का हमेशा अभ्यास करना

चाहिए। ऐसा आचार्य ने बताया है। किसी पर पदार्थ में रागद्वेष न करना और अपनी आत्मा को पर वस्तु से भिन्न समझना, उसी में लीन होना इसी का नाम समभाव है। अर्थात् समस्त पर वस्तु में समता भाव रखना, अपने आप से भिन्न मानना यह समभाव है। पर वस्तु अपनी आत्मा के साथ कभी भी नहीं रहती है। अपनी मर्यादा पूर्ण होने के बाद वह अलग हो जाती है। इसलिए आचार्य ने इष्ट अनिष्ट पदार्थों में समभाव रख करके केवल निर्मल आत्म स्वरूप में लीन होना ही स्वभाव है ऐसा बतलाया है कहा भी है कि–

यत्पश्यामि कलेवरं बहुविधव्यापारजल्पोद्यतम्।
तन्मे किंचिदचेतनं न कुरुते मित्रस्य वा विद्विषः॥
आत्मा यः सुखदुःखकर्मजनको नासौ मया दृश्यते।
कस्याहं वद् सर्वसंगविकलस्तुष्यामि रुष्यामि च॥

मित्र या शत्रु के जिस शरीर को नाना प्रकार का आरम्भ करने में लगा देखता हूँ वह शरीर चेतना रहित जड़ है, मेरा कुछ नहीं कर सकता है। उनका जो आत्मा सुख तथा दु:ख स्वरूप कर्मों को उत्पन्न करने वाला है उसे मैं देख नहीं सकता तथा मैं सर्व कर्मादि पर वस्तु के संग से रहित शुद्ध हूँ तब किस पर प्रसन्न होऊं तथा रोष करूं। यह विचार करने की बात है।

यहाँ पर आचार्य ने रागद्वेष मिटाने की एक रीति समझाई है। यह संसारी प्राणी उन मित्रों से प्रेम करता है जो अपने वचनों से हमारे हित की बातें करते हैं व अपने आचरण से हमारी तरफ अपना हित दिखलाते हैं तथा उनको शत्रु समझ कर द्वेष करता है जो हमारे अहित की बातें करते हैं तथा अपने व्यवहार से हमारी कुछ हानि करते हैं। सामायिक करते हुए प्राणी के मन से रागद्वेष हटाने के लिए आचार्य कहते हैं कि हे भाई! तू किस पर राग व किस पर द्वेष करेगा। जरा तुझे विचारना चाहिए। यदि तू मित्र के शरीर से राग, व शत्रु के शरीर से द्वेष करता हे तो यह तेरी मूर्खता ही होगी क्योंकि शरीर बेचारा जड़ अचेतन है, वह न किसी का बिगाड़ करता है न सुधार। शरीर के सिवाय उनका आत्मा है, उसको यदि सुख तथा दु:ख का देने वाला मानें तो उससे आत्मा को सुख शन्ति नहीं होती है। किन्तु उल्टा रागद्वेष की मात्राएं बढ़कर

मोक्ष मार्ग में विघ्न ही उत्पन्न करती है। जिनकी लालसा खानेपीने देखने आदि से हट गई हो, तथा आत्म सुख का अनुभव होने लग गया हो और यह सच्चा ज्ञान हो कि जैसे कोई यात्री अपनी यात्रा में भिन्न-2 स्थानों में विश्राम करता हुआ जाता है वैसे यह आत्मा भी एक यात्री है जिसकी यात्रा का ध्येय मोक्ष द्वीप है सो जब तक मोक्ष स्थान तक न पहुँचे यह भिन्न-भिन्न शरीर में वास करता हुआ यात्रा करता रहता है तथा यह अविनाशी है। शरीर के बिगड़ने पर आत्मा नहीं बिगड़ता है। यह अनादि से अनन्तकाल तक अपनी सत्ता रखने वाला है। इस तरह जिसका लक्ष्य शरीर रूपी ठहरने के स्थान पर नहीं रहता है। किन्तु मुक्तिद्वीप में पहुँचना लक्ष्य रहता है, तथा जिस किसी शरीर में कुछ काल के लिए ठहरता है उसे मात्र एक धर्मशाला जानता है, उस शरीर व उसके सम्बन्धी चेतन व अचेतन, पदार्थों पर राग व द्वेष किस तरह किया जा सकता हैं तथा मेरा स्वभाव भी रागद्वेष करने का नहीं है मैं सर्व संग से रहित हूँ। न मुझसे कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं न शरीरादि नोकर्म हैं न रागद्वेषादि भावकर्म हैं। मैं निश्चय से सबसे निराला सिद्ध के समान ज्ञातादृष्टा अविनाशी पदार्थ हूँ। इसलिए मुझे उचित है कि समभाव में रमण कर आत्मिक सुख का अनुभव करूँ। जगत में न कोई मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है। इसी तरह श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधि शतक में कहा है—

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुन्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥

मुझको न देखता हुआ यह लोक न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है अर्थात् चर्म की आँखों से मेरी आत्मा को कोई देख नहीं सकता है इसलिए मेरी आत्मा का न कोई शत्रु है न मित्र है तथा मुझको अर्थात् मेरी आत्मा को देखने वाला लोक है, वह भी न मेरा शत्रु है न मित्र है क्योंकि वीतरागी आत्मा ही आत्मा को देख सकता है। इसलिए न मेरा कोई मित्र है न कोई शत्रु है। आगे कहा है कि—

अदृष्टमत्स्वरूपो ऽयं जनो नारिर्न से प्रियः।
साक्षात् सुदृष्टरूपोपि जनो नारिः सुहृन्न मे॥

जिस मानव ने मेरी आत्मा के स्वभाव को देखा ही नहीं है वह न मेरा शत्रु है न मेरा मित्र है। जिसने प्रत्यक्ष मेरी आत्मा को देख लिया है वह महान मानव भी न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र।

आचार्य ने शत्रुता को मिटाने की एक और युक्ति बताते हुए कहा है कि—

क्रोधाबद्धधिया शरीरकमिदं यन्नाश्यते शत्रुणा।
सार्धं तेन विचेतनेन मम नो काप्यस्ति संबंधता॥
संबंधो मम येन शश्वदचलो नात्मा स विध्वस्तये।
न क्वापीति विधीयते मतिमता विद्वेषरागोदयः॥

यहाँ आचार्य ने शत्रु भाव को मिटाने की एक और रीति बताई है। जो कोई किसी का शत्रु बनकर उनका नाश करता है वह मानव उस समय क्रोध रूपी पिशाच के वशीभूत होकर बावला बन जाता है। वह उन्मत पुरुष के समान है, जिसने गहरा नशा पी लिया हो। बावले की चेष्टा का बुरा मानना मूर्खता है। मानव ने यदि मेरे इस शरीर का नाश किया तो मेरा क्या बिगड़ा। शरीर तो स्वयं जड़ है, नाशवंत है, मेरा और उसका क्या सम्बन्ध? यह तो मात्र मेरे रहने का घर है। घर के जलने से व नष्ट होने से घर वाला नष्ट नहीं हो सकता। मैं चेतन अमूर्तिक अविनाशी हूँ। मेरा सम्बन्ध अपने इस स्वरूप से ऐसा निश्चल है कि कभी छूट नहीं सकता। मेरी इस आत्मा का नाश करने की किसी की ताकत नहीं है। जब मेरी आत्मा का कोई बिगाड़ या सुधार कर ही नहीं सकता तब मैं किस मानव से राग करूँ व किस मानव से द्वेष करूँ? यदि मैं राग द्वेष करता हूँ तो मैं मूर्ख, बावला हूँ। इसलिए मुझे न किसी से राग करना चाहिए, न द्वेष। मुझे पूर्ण समता भाव में ही रमण करके सुखी रहना चाहिए। निश्चयनय से यहाँ भी साधक को अपनी आत्मा को शुद्ध, अविनाशी, चेतन, अमूर्तिक अनुभव कर लेना चाहिए। न मेरा कोई शत्रु है न कोई मेरा मित्र है इस कल्पना को रखना चाहिए।

पंचविंशतिका में श्री पद्मनंदि मुनि ने बतलाया है कि—

मेरा कोई सम्बन्ध आश्रय करने वाले इस सेवक से नहीं है। मैं अब केवल अकेला ही सुखी हूँ। इस संसार में अनादि काल से इस शरीरादि के संग में बहुत कष्ट पाए है इसलिए मैं इनसे उदास हो गया हूँ, मुझे सदा अपना एक निराला रूप ही रुचता है। वास्तव में ज्ञानी में ऐसा ज्ञानभाव सदा रहता है।

आगे आचार्य कहते हैं कि–

परिसहदवग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरेजीवो।
ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो॥

परीषह रूपी दावानल से सन्तप्त हुआ जीव जब निर्विकल्प हो ज्ञान रूपी शीतल स्वच्छ सरोवर में प्रवेश करता है और स्वस्वभाव रूपी जल में स्नान करता है उस समय इसे निर्वाण मोक्षधाम की प्राप्ति होती है।

आगे आचार्य बतलाते हैं कि उपसर्ग आने पर किस प्रकार मुनि को उसका मुकाबला करना चाहिए। कहा भी है कि–

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दूहजणया।
ते सहियव्वा णूणं समभावेण णाणचित्तेण॥

यदि किसी तरह नाना प्रकार के दु:ख देने वाले उपसर्ग मुनि के लिए आ कर उपस्थित हो जाय तो उसे चाहिए कि वह समभावों से उन्हें अवश्य सहे उपसर्गों से भयभीत हो चारित्र से न डिगे।

भावार्थ–राग द्वेष न कर, दु:ख-सुख, शत्रु-मित्र, वन-भवन, अलाभ-लाभ, कांच-सुवर्ण आदि को समान मानना, किसी को अच्छा बुरा न विचारना समभावना हैं उत्तम समता के स्थान पर जिस महात्मा का मन महल-मरघट, स्तुति निन्दा, कीचड़-केसर, सेज-कंकरीली भूमि, पत्थर-चंद्रकातमणि, चाम-चीन देश के वस्त्र, जीर्ण शरीर और देवांगना में ऊँच नीच का विकल्प नहीं करता, सबको समान रूप से समझता है, वह साम्यभाव का धारक गिना जाता है, अर्थात् महल मरघट आदि उत्तम हीन दोनों पदार्थो को समान रूप से मानना साम्यभाव है। यदि किसी कारण से नाना प्रकार के दु:ख देने वाले घोर उपद्रव आकर उपस्थित हो जायें तो मुनि को चाहिए कि वह समभाव से समस्त उपद्रवों को सहन करे। घोर वेदना के

होने पर भी अपने शुद्ध स्वरूप से विचलित न होवे। क्योंकि—

णाणमयभावणाए भविय चित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥

जिन पुरुषों के चित्त में सदा ज्ञान स्वरूप भावना विराजमान रहती है ऐसे उत्तम पुरुषों ने अचेतन आदि चारों प्रकार के घोर उपसर्गों को सहा है। देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत और अचेतनकृत ये चार प्रकार के उपसर्ग है। जिस समय मुनिगण ध्यान में लीन होते हैं उस समय उनमें बहुतों को देव आदि द्वारा घोर उपद्रव सहने पड़ते हैं किन्तु पुरुषों में सिंह के समान वे मुनि अपने चित्त को ज्ञान मय भावना में लीन कर उन उपसर्गों को सहते हैं और अपने शुद्धात्म ध्यान से जरा भी चलित नहीं होते।

समभाव रहित योगी का ध्यान मोक्ष का कारण नहीं है इस बारे में बताते हुए कहते हैं कि—

समतेइल्लदे योगं, समनिसददरिंदे समते वेळ्पुदुयोगी।
समनागि नडेये योगं, समनिसुगुं समते सकलमोक्षावासं॥67॥

अर्थ—इष्ट न अनिष्ट वस्तु में समता भाव अगर नहीं रहेगा तो ध्यान की शुद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए योगी को समभाव रखना ही उचित है। समभाव पूर्वक ध्यान करेगा तो वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। परभाव से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती है॥67॥

विवेचन—आचार्य ने यहाँ बतलाया है कि जो समभाव रहित हैं उनकी क्रिया कांड और तपश्चर्या आदि निरर्थक है क्योंकि समभाव के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। समभाव रहित अगर तू तप करेगा तो मनुष्य गति से भी अगले भव में बुरी गति मिलेगी। इसलिए समभाव रखना ही परमावश्यक है। समभाव रहित दीपायन मुनि घोर तपश्चर्या करके अन्त में थोड़ा रौद्र ध्यान के कारण कषाय उत्पन्न होने से उन्हें अत्यन्त निंद्य गति में जाना पड़ा। इसलिए सबसे पहले इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं में ममत्व हटाकर दोनों में समान भाव रख कर उत्तम समता भाव रूप एक आत्मा का ही ध्यान करे तो संसार का अन्त हो सकता है। जब कोई जीव कषाय के उदय से रंगे हुए मन

वचन काय की प्रवृत्ति में रंग जाता है तो उसको लेश्या कहते हैं तथा क्रोध मान माया लोभ को कषाय कहते हैं। यह कषाय परवस्तु के निमित्त से होती है। जब तक परपदार्थ में इष्ट और अनिष्ट भाव है, तब तक तपश्चर्या करना भी निरर्थक है। ये ही बाह्य वस्तु कषाय को उत्पन्न करती हैं। ये कषाय चार प्रकार की है। पत्थर की लकीर के समान क्रोध, स्तम्भ की तरह कभी न झुकने वाला मान, बांस की लकड़ी की तरह माया और लाख के रङ्ग की तरह कभी न मिटने वाला लोभ अति अशुभ होता है। अत: ऐसी कषाय के उदय से कृष्ण, नील और कापोत नाम की तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। इन लेश्याओं से मरकर वह तिर्यञ्च नरकादि गति में जन्म लेता है। वहाँ भूख प्यास छेदना भेदना चिरना आदि कष्ट भोगता है। क्योंकि नारकीय जीव परस्पर एक दूसरे को अनेक प्रकार के कष्ट देते हैं। कोल्हू में पिलना, भाड़ में पकना, भालों पर फैंका जाना, तलवार की धार के समान नुकीले पत्ते वाले वृक्षों के नीचे डाला जाना, सुई की नोक के समान घास पर डाल कर खींचा जाना तथा अपनी विक्रिया से रूप निर्मित कर परस्पर में मारना आदि द्वारा बड़ा कष्ट होता है। इसके सिवाय तीसरे नरक तक असुर कुमार जाति के देव भी कष्ट पहुँचाते है। इस तरह नरक में जाकर यह जीव बड़ा कष्ट भोगता है। वहाँ से बड़ी मुश्किल से निकल करके पुन: तिर्चन्च होता है। वहाँ पर अनेक प्रकार के दु:ख सहता है। अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमि से निकल कर यह जीव फिर तिर्यन्च गति में जन्म लेता है अर्थात् तिर्यन्च गति से ही नरक में गया था और नरक से निकल कर भी तिर्यन्च होता है। तिर्यन्च गति भी, भूख प्यास, भार वहन, छेदन भेदन, ताड़न मारन, आदि का महान दु:ख सहन करता है। पुन: आगे मनुष्य पर्याय बड़ी मुश्किल से प्राप्त होती हैं जैसे समुद्र में फैके हुए रत्न का हाथ आना मुश्किल है वैसा ही मनुष्य जन्म भी अत्यन्त दुर्लभ है। तिर्यन्च पर्याय से निकल कर अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके भी यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर पाप का अर्जन करता है।

आर्य खण्ड की दुर्लभता—यदि कदाचित् आर्य खण्ड में जन्म लेता भी है तो उत्तम कुल पाना कठिन है तथा मिला भी तो दरिद्र आदि होता है। जो

स्वयं गुणी होते हैं तथा गुणवानों की संगति में रहते हैं उन्हें आर्य कहते हैं। चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष जिस भूमि में जन्म लेते हैं वह भूमि आर्य खण्ड कहलाती है। यदि मनुष्य भव पाकर वह जीव आर्य खण्ड का मनुष्य हुआ और महाव्रत की प्राप्ति योग्य उत्तम क्षत्रिय आदि का कुल न पाया तो भी मनुष्य भाव पाना व्यर्थ हुआ। तथा ब्राह्मण क्षत्रिय भव पाकर धन धान्य से रहित दरिद्री हुआ तो भी जीवन कष्ट में ही बिताता है। धन सम्पन्न हुआ तो इंद्रियों की पूर्णता पाना दुर्लभ है। यदि इंद्रियों की भी पूर्णता हुई और शरीर रोगी हुआ तो भी वह बेकार है। कदाचित् धनाढ्य हुआ तो हाथ पैर से ठीक होना कठिन है। कदाचित् शरीर ठीक हुआ और आँख कान आदि ठीक हुए तो नीरोग शरीर मिलना दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्य शरीर ज्वर, भगन्दर कुष्ठ, संन्निपात, आदि व्याधियों का घर है। कदाचित् नीरोग भी हुआ तो लम्बी आयु नहीं पाता, जल्दी मर जाता है। कदाचित् लम्बी आयु पाई तो उत्तम स्वभाव रूप उत्तम शील को नहीं पाता। कदाचित् उत्तम स्वभाव पाता है तो रत्नत्रय, साधु संगति नहीं मिलती है। कदाचित् संगति मिलती है तो तत्व श्रद्धान युक्त सम्यक्त्व का पाना दुर्लभ है। देववश कदाचित् सम्यक्त्व को प्राप्त कर ले तो चारित्र को ग्रहण नहीं कर सकता। यदि चारित्र ग्रहण कर ले तो उसे पालने से असमर्थ होता है। कदाचित् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय को प्राप्त कर यह जीव क्रोध मान माया लोभ रूप तीव्र कषाय को करता है तो रत्नत्रय को नष्ट करके दुर्गति में भ्रमण करता है अर्थात् मर कर या तो नरक में जाता है या तिर्यन्च गति में जन्म लेता है या दीन दु:खी दरिद्री होता है। यदि देव भी होता है तो भवनवासी व्यन्तर या ज्योतिष जाति का देव होता है। इसलिए हे योगी। उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय प्राप्त होने के बाद तुझे मन लगा करके इष्ट और अनिष्ट वस्तु की ममता को छोड़ कर समता भाव की आराधना कर तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। बिना समता के करोड़ वर्ष तू तप भी करेगा तो भी तुझे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है जैसे तू जिन्दगी भर प्रयत्न करके लाखों की सम्पति कमा कर घर में रख भी ले और उसको रात में चोरों में रक्षा न करे तो वह तेरी कमाई निरर्थक जाती है, इसी तरह हे योगी!

तू मनुष्य जन्म पा करके अत्यन्त घोर तप करता है परन्तु इष्ट और अनिष्ट वस्तु में समता न होने के कारण कषाय रूपी चोर तेरी आत्मा के अन्दर घुस कर रत्नत्रय को लूट तुझे नरक में या तिर्यंच गति में डाल देता है, इसलिए तुझे पर वस्तु का मोह छोड़ कर आत्म स्वरूप का ध्यान करना ही योग्य है।

समभाव में ही मोक्ष है ऐसा पुनः बतलाते हैं—

समतेयोळु मोक्षकक्कुं, समते पोळं ज्ञानदर्शनादि गळ्गळक्कुं।
समतेये मुख्यमदक्कुं, समतेये सर्वज्ञतत्वमंप्रकटिंसुगं॥68॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट वस्तु के समभाव में मोक्ष है। समभावना में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है। समभाव ही मुख्य है। समभाव को ही हमेशा प्रकट करना चाहिए। अर्थात् समभाव ही रत्नत्रय को प्रकट करता है इसलिए प्रत्येक जीव को परभाव को छोड़ करके समभाव की ही आराधना करनी चाहिए। ऐसा ग्रथंकार ने बताया है।

विवेचन—ग्रंथकार ने यहाँ बताया है कि समभाव ही इष्ट और अनिष्ट का कारण है। बिना समता के मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है और समता भाव को पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण पर वस्तु से वैराग्य चाहिए। बिना वैराग्य के समता भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। जब यह जीव परवस्तु से ममत्व या रूचि को हटाकर आत्म सम्मुख हो जाता है तब वह अपने समभाव रूप आत्मा में आसक्त हो जाता है। अपनी आत्मा में जो आसक्त होता है उसको पहले पहल आत्म स्वरूप का आश्रय होता है: आत्म स्वरूप में आसक्त होने से उसे बहुत सन्तोष होता है और बार-बार उसी में रत होकर भावना करने से उससे भी ज्यादा सुख मालूम होने लगता है। बाहर की जितनी क्रिया है जितना खेल है, उसको देखते ही मन के अन्दर भय उत्पन्न होता है जैसे कछुआ बाहर के आदमी की आवाज से अपने अवयवों का संकोच करके ऊपर के अपने कवच में बन्द कर भीतर ही बैठ जाता है और मजबूत पक्ष होने के कारण दूसरे शत्रु के द्वारा बड़ी-बड़ी गोत्मी चलने पर भी चोट नहीं खाता है, उसी तरह समता भाव से ज्ञानी योगीजन जब बाह्य वस्तु की समता को त्याग कर अपनी समता रूपी आत्मा में आसक्त हो जाता है तब

बाह्य संसार के पर पदार्थ या संसार का खेल उन्हें दृष्टि गोचर होते ही भय उत्पन्न होता है, वह हमेशा उससे दूर रह करके अपनी आत्मा में प्रेम या सुख मालूम होता है। दुनियाँ उसको पागल के समान प्रतीत होती है।

जो परमात्मा में आसक्त हैं उन्हें खान पान में भोजन में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। बाहर सभी से घृणा हो जाती है। बाहर के पर द्रव्य के प्रति उनकी दृष्टि नहीं जाती है। उनके हाथ पांव सभी चंचलता बन्द कर संकुचित हो जाते हैं, उनकी बुद्धि हमेशा मोक्ष को स्पर्श करती है। जो जीव चंचलता रहित होता है और अपनी आत्मा को देखता है उसके लिए बाह्य तप सहायक होते हैं। जिनके मन अपने आत्म चिन्तन में नहीं है, जिनकी वृत्ति चंचल है, उनके लिए यह तप सहायक नहीं होते है। इसलिए योगी को शरीर सम्बन्धी पर वस्तु के मोह का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है और सतत आत्म भावना में रत होना चाहिए। अपनी दृष्टि शत्रु मित्र आदि में समान रूप रखनी चाहिए। उसे आत्मा को क्रूर बाज के हाथ में पड़े हुए पक्षी के समान यमराज के हाथ में पड़ा हुआ समझना चाहिए। भोग उपभोग और विषयों में जिसकी रुचि है और जो उसमें आसक्त होता है, वह मूढ़ प्राणी विषयाग्नि में जल कर खाक हो जाता है। ऐसे तीव्र कषाय से लिप्त होकर अनेक प्रकार के दु:ख के आधीन होता है वह हमेशा कराहता है। नरक में इस प्रकार डूबने से क्या प्रयोजन। इसलिए शरीर को शत्रु समझ कर जो व्रत में युक्त रहता है वही विषय को अनष्टि समझ कर छोड़ता है और अपने आत्म ध्यान में लीन होकर समता का रसपान करता है। उसे कदाचित् क्रोध भी आता है तो भी वह उस कषाय से दूर होकर शान्त रस का पान करने वाला होता है। उसके समान इस संसार में कोई ज्ञानी नहीं है। इस प्रकार जो योगी इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं से प्रेम हटा कर अपने अन्दर ही रहता है वही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसलिए योगी! तू समभाव का अभ्यास करके इस संसार रूपी कारागार से मुक्त होने की चेष्टा कर।

सुख दु:ख में समान भाव रक्खा, ऐसा कहते हुए बताया है कि–

समनप्पुदु सुखदुःखदे समनप्पुदु बंदवैरिवगेदे वेरतें।
समनप्पुदु पोंगहळ्ळेळ्समनप्पुदु पुण्यपाप दोळ्नीं जीवा ॥69॥

अर्थ—हे जीव! तुझे सतत सुख दुःख में समभाव में युक्त होना चाहिए। बन्धु वर्ग में और शत्रुओं में सदा समभाव रखना चाहिए। ज्यादा क्या कहें। सोने और पत्थर में, पुण्य और पाप में सदा समभाव रखने वाला होना चाहिए। आचार्य ने समभाव का यहाँ ज्यादा अभ्यास करने पर जोर दिया है। आजकल समभाव का अभाव होने के कारण यह संसारी प्राणी शत्रु मित्र के भाव में ज्यादा समय व्यतीत करता है। जब तक समभाव इस जीव के अन्दर नहीं आता है तब तक मानव प्राणी आपस में किसी से प्रेम भाव नहीं रख सकता है। प्रेम भाव न होने के कारण अनेक प्रकार के छल और कपट आपस में करके अपने इन्द्रिय विषय बढ़ाने वाली सामग्री का संग्रह करना चाहता है।

धार्मिक प्रवृति का अभाव होने के कारण मानव में समता का भाव बिल्कुल लोप सा हो गया है। जब मानव के अन्दर समता की जागृति होती है तो वह अपने मानव प्राणी को पहचानता है। भाई के नाते उसके अन्दर प्रेम उत्पन्न हो जाता है। जब उनके प्रति उपकार की वृद्धि होती है तो धार्मिक भावना बढ़ जाती है, क्रोध कषाय मन्द हो जाती है। त्याग भाव उत्पन्न होता है। जब समता भाव नष्ट हो जाता है, तब मानव के अन्दर निशाचर की भावना अर्थात् राक्षस वृत्ति पैदा हो जाती है। जैसे राक्षस अपनी क्रूर वृत्ति के कारण मनुष्य को मार डालता है इसी प्रकार इस मानव के अन्दर भी समता का भाव न होने के कारण मानव को मानव ही निशाचर के रूप में खाने का प्रयास करनें लग जाता है। आजकल इस युग में देखा जाय तो इस मानव के अन्दर ये ही प्रवृत्ति देखी जाती हैं, प्रेम की भावना नष्ट होने के कारण समता भाव भी नष्ट हो गया है। इसीलिए आचार्य ने मानव कहलाने के लिए समता के पाठ का अभ्यास करना अत्यन्त जरूरी बताया है। ये समता मनुष्य के अलावा कभी पशु या क्रूर जंगली पशुओं में नहीं आ सकती है। समता का पाठ एक मानव ही पूरा कर सकता है। इसलिए मानव को हमेशा इष्ट अनिष्ट वस्तु के स्वरूप

को समझ कर उसमें रागद्वेष को दूर से त्याग कर देना चाहिए और उसके भीतर जो आत्मा का स्वभाव है उसको खोज करके उसी में स्थिर रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

विवेचन—आचार्य ने यहाँ योगी के लिए समता का अध्ययन करने के लिए जोर दिया है। कहा भी है कि योगी को हमेशा इस तरह की भावना करनी चाहिए—

विद्विष्टे वा प्रशमवति या बांधवे वा रिपौ वा।
मूर्खौघे वा बुधसदसि वा पत्तने वा वने वा॥
संपत्तौ वा मम विपदि वा जीविते वा मृते वा।
कालो देव! व्रजतु सकलः कुर्वतस्तुल्यवृत्तिम्॥

हे जिनेन्द्रदेव! मेरा सर्व समय मेरे से द्वेष करने वाले में अथवा मेरे ऊपर शान्त भाव रखने वाले में, बन्धु में अथवा शत्रु में, मूर्खो के समुदाय में अथवा बुद्धिमानों की सभा में, नगर में अथवा जंगल में, धनादि की प्राप्ति में अथवा आपत्ति में, जीने में अथवा मरने में समान रूप या समता रूप वर्तन करते हुए बीते। आगे कहा है कि—

सुखे वा दुःखे वा व्यसनजनके वा सुहृदि वा।
गृहे वारण्ये वा कनकनिकरे वा वृषदि वा॥
प्रिये वानिष्टे वा मम समधियो यांतु दिवसा।
दृशधानस्य स्वान्ते तव जिनपते! वाक्यमनघम्॥

इस श्लोक में आचार्य ने सामायिक के स्वरूप को दिखलाया है। वास्तव में समता भाव को ही सामायिक कहते हैं। यह समता भाव असल में तब ही जागता है जब निश्चय नय की शरण ग्रहण की जावे और व्यवहार नय की दृष्टि को गौण रक्खा जावे। निश्चय नय वह दृष्टि या अपेक्षा है जिसके द्वारा देखने से हर एक पदार्थ का मूल या असली रूप दिखाई दे जाता है। यही द्रव्यदृष्टि है द्रव्य को मात्र उसके असली स्वभाव में देखने वाली है। व्यवहार नय वह दृष्टि है। जिससे पदार्थ की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को व पदार्थ के भेदों को व असली हालत पर पहुँचने के साधनों को व उसके अशुद्ध स्वरूप

को देखा जा सके। सिद्धान्त ने यह आवश्यक बताया है कि दोनों नयों से पदार्थ को देखना चाहिए।

जो शिष्य व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को समझकर मध्यस्थ या वीतरागी हो जाता है या किसी एक नय के पक्षपात से रहित हो जाता है, वही जिनवाणी को समझने के पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

यह जगत् व्यवहारनय से देखते हुए अनंत भेदरूप विचित्र दिखलाई पड़ता है। यह राजा है यह रंक है, स्वामी है यह सेवक है, यह धनवान है, यह निर्धन है, यह सुन्दर है, यह कुरूप है, यह बलवान है, यह निर्बल है, यह विद्वान है यह मूर्ख है, यह गुरु है यह शिष्य है, यह पूज्य है यह पूजक है, यह वंदनीय है यह वंदना करने वाला है, यह साधु है यह गृहस्थ है, यह शत्रु है यह मित्र है, यह पिता है यह पुत्र है, यह माता है यह पुत्री है, यह बांधव है यह अन्य है, यह पुरुष है यह स्त्री है, यह बालक है यह जवान है, यह वृद्ध है यह शिशु है, यह निरोगी है यह सरोग है, यह हिन्दू है यह मुसलमान है, यह पारसी है यह सिक्ख है यह जर्मन है यह जापानी है, यह अंग्रेज है, यह फ्रांसीसी है, यह अमेरिकन है यह अफ्रीकावासी है, यह गोरा है यह काला है, यह क्षत्रीय है यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है यह शूद्र है, यह पर्वत है यह नदी है, यह सूर्य है यह चंद्र है, यह स्वर्ग है यह नरक है, यह स्वदेश है यह परदेश है यह भरत है यह विदेह है, यह काँच है, यह रत्न है पाषाण है यह महल है यह श्मशान है, यह फूल है यह कंटक है यह भूमि है, यह निर्मल है यह मैली हैं, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद हैं ये सब व्यवहारनय की दृष्टि से हैं यही दृष्टि रागद्वेष मोह का कारण है। जिन चेतन पदार्थों से अर्थात् स्त्री पुत्र, मित्र, बंधु, पशु आदि से अपना स्वार्थ सधता हैं अथवा जिन अचेतन पदार्थों से अर्थात् घर, वस्त्र, बर्तन, सामान आदि से अपना मतलब निकलता है उनसे तो राग होता है तथा जिन पुरुषों से, स्त्रियों से अपने स्वार्थ साधन में हानि पड़ती है अथवा जो घर, वस्त्र, बर्तन या सामान अपने चित्त को कष्ट में रूप भासते हैं, उनसे द्वेष पैदा हो जाता है। व्यवहारनय की दृष्टि से देखते हुए अंहकार व ममकार पैदा हो जाते हैं। मैं राजा हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं दीन हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं

निरोगी हूँ मैं सुन्दर हूँ मैं कुरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ मैं स्त्री हूँ इत्यादि अहंबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह भोजन मेरा है, यह ग्रंथ मेरा है, यह मंदिर मेरा है, इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। अहंकार ममकार द्वारा वर्तन करते हुए चारों कषायों की प्रबलता हो जाती है। कषायों के द्वारा तीव्र कर्म का बंध हो जाता है और यह मोही प्राणी संसार के झंझटों में व सुख तथा दु:ख में उलझा रहता है, कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी सच्ची शांति को नहीं पाता है।

निश्चय नय से देखते हुए ये सब ऊपर लिखित भेद नहीं दिखाई देते है। ये सब भेद जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्यों से निमित्त से हैं। बस, जो निश्चय से देखता है उसे सर्व ही जीव संसारी या सिद्ध, नारकी, देव पशु, मनुष्य, छोटे, बड़े, राजा, रंक आदि एक रूप अपने शुद्ध केवल स्वभाव में ही दिखते हैं। सब ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य के धारी परमात्मारूप दिखते हैं। आप भी अपने को परमात्मरूप दिखता है, अन्य सब भी परमात्वरूप दिखते हैं तथा सब पुद्गल स्पर्श, गंधवान जीवरूप एक से दिखते हैं। इस दृष्टि से देखते हुए ही समता भाव की जागृति होती है, रागद्वेष का अभाव होता है, शत्रु मित्र की कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ व मनोज्ञ पदार्थ का भेद निकलता है, इष्ट व अनिष्ट का द्वेष मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभाव को पैदा करती है।

साधु को स्तुति और निंदा समान मानना चाहिये।

स्तुतियिसुवपळिव पूजिसु वतिहीनते माहुवखिल जन दोळ् जीवा।
रतिय रति यिल्लदा यति सततं मोक्षक्के ताने मोदाळिगनवकुं॥70॥

अर्थ—हे जीव् तू स्तुति करने वाले और निंदा करने वाले के ऊपर, अपने पूजा करने वाले के ऊपर और आप को देखकर अत्यंत निंदा घृणा करने वाले के ऊपर प्रीति और अप्रीति से रहित रहने वाला यही मोक्ष का अधिकारी बन जाता है अन्यथा नहीं ऐसा आचार्य ने कहा है॥70॥

विवेचन—जो साधु निंदा स्तुति को समान मानता है, कोई निंदा करे,

वंदन करे या कोई इनका तिरस्कार करे, वह साधु उसके प्रति रागद्वेष करके अपने को सुखी और दुखी नहीं मानता है। हमेशा अपने स्वरूप में रत रहता है। कहा भी है कि साधुओं की बिना निमित्त बन्धुता होती है।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि वहुदुःखेपि निवसन्।
व्यरंसीन्नौ नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्॥
इदं दृष्ट्वाप्यस्माद्वि रमयितुमेनं च यतते।
यतिर्यांताख्यानैः परिहितरतिं पश्य महतः॥

अनेक दुःखों के कारण तथा मल मूत्रादि अपवित्रता से भरे हुए इस शरीर से जीव विरक्त नहीं होता, यह बात तो अलग ही रही। पर ऐसे के साथ अधिक प्रीति न करना यह भी तो उससे नहीं बनता है। उल्टा इस शरीर के साथ अधिकाधिक प्रीति करता है खैर, यह प्राणी तो भूल ही रहा है पर, इसे कोई यह सूझाता भी तो नहीं है कि तू ऐसा मत कर। इस प्राणी के जितने बन्धुजन तथा मित्र हैं वे सब कर्कश तथा अप्रिय लगने के डर से ऐसा एक शब्द भी कभी नहीं बोलते कि जिससे उस प्राणी की शरीर सम्बंधी प्रीति कम हो। परिपाक के समय चाहे वह कितना ही दुखी क्यों न हो पर, उसके मित्र बांधव सदा वही बात सुनाते है कि जिससे उसे तत्काल अनिष्ट भासता हो इसलिये वे सच्चे मित्र बांधव नहीं हैं, क्योंकि वे अहित से उसे रोकते नहीं। तो फिर सच्चा मित्र या बांधव कौन है? जो उस अहित प्रवृत्ति से उसे बचाता हो। ऐसा कौन है? ऐसे साधु संतपुरुष होते हैं जो जीवों की शरीरादिक के साथ उत्कृष्ट प्रीति देखकर भी यह विचार नहीं करते कि इन जीवों को हमारा उपदेश कठोर लगेगा। किन्तु वे फल समय में हितावह समझकर अपने सार उपदेश को सुनाते ही हैं और परिपाक समय में दुखदाई ऐसे शरीर प्रेम को छुड़ाने का यत्न करते ही रहते हैं। हे संसार के जीवो! ऐसे महापुरुषों के निष्कारण परहित की तरफ देखो। ये महापुरुष ही सच्चे मित्र या हितू हैं। क्या जीवों को हितोपदेश सुनाने के बदले उन जीवों से उन्हें कुछ मिलेगा? नहीं। उनका स्वभाव ही परम दयालु होता है कि जिससे वे सदा सबों का निष्कारण

हित साधन करने में प्रवर्तते हैं कहा भी है कि—

कांच कंचन समझ मिगरे, अरि मित्र एक स्वरूप।
निंदा बढ़ाई सार की, बन खंड शहर अरूप॥
सुख दुःख जीवन, मरण में, नहिं खुशी नहिं दिलगीर।
ते साधु मेरे उर बसो, मेरी हरो पातक पीर॥

इस प्रकार वीतरागी, ज्ञानी, योगी मन में विचार करके अपने आत्म स्वरूप से च्युत नहीं होता है। वह अपने समता रूपी खड्ग के द्वारा कर्मो की निर्जरा करके अखंड शुद्धात्मा के सुख की प्राप्ति कर लेता है। वह साधु धन्य है।

उठते बैठते योगी का स्थान उचित होना चाहिए ऐसा आचार्य बतलाते हैं।

पट्टिपेडिं कार्कर्क पैडे, नेट्ट्ने निंदिर्दु नोलपडु डुचित स्थानं।
तोटटने चित्तस्खलनेय, पुट्टिपुदोपेडेयनरिदु परिहरिसुगडा॥71॥

अर्थ—हे जीव! ध्यान के लिए, बैठने के लिए, खड़े होकर देखने के लिए स्थान और प्रवेश स्थान का उचित होना आवश्यक है। मन में चंचलता उत्पन्न करने वाला स्थान नहीं होना चाहिए। अगर तुझे आत्म ध्यान में एकाग्रता करनी है तो ध्यान में बाधा लाने वाले स्थान को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए। ॥71॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि आत्म ध यानी योगी के योग साधन के लिए, आत्म ध्यान के लिए उच्च स्थान की जरूरत है। जहाँ अपने ध्यान में बाधा आती हो तो साधु के मन में चंचलता आती हो, ऐसा स्थान साधु को शीघ्र छोड़ देना चाहिए।

धर्म ध्यान किसको होता है? जो ज्ञानी पुरुष धर्म में एकाग्र मन रहता है और इन्द्रियों के विषयों का अनुभव नहीं करता है। उनसे सदा विरक्त रहता है, उन्हीं को धर्म ध्यान होता है। धर्म का जो स्वरूप बतलाया है जो उसमें एकाग्रचित रहता है अथार्त् अपने शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप में लीन रहता है अथवा उत्तम क्षमादि 10 धर्म या रत्नत्रय रूप धर्म का सदा मन वचन काय से

आचरण करता है, मन वचन काय कृत कारित अनुमोदन से किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचे इसका ध्यान रखता है, स्पर्शन आदि इन्द्रियों के विषयों का कभी सेवन नहीं करता है, संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता है, उसी ज्ञानी को धर्म ध्यान होता है।

राग द्वेष से रहित जो धीर पुरुष बाह्य संकल्प विकल्पों को छोड़कर एकाग्रमन होता हुआ जो विचार करता है वह भी शुभ ध्यान है। शुभ ध्यान के लिए कुछ बातों का होना आवश्यक है। प्रथम तो राग और द्वेष को दूर करना चाहिए। दूसरे, स्त्री पुत्र धन धान्य सम्पदा मेरी है, मैं इन्हें पाकर बहुत सुखी हूँ इस प्रकार बाह्य वस्तुओं में मन को नहीं लगाना चाहिए और तीसरे उपसर्ग परीषह वगैरह को सहने में समर्थ होना चाहिए। उक्त बातों सहित मनुष्य जो भी एकाग्र मन से विचार करता है वही धर्मध्यान है।

जिसको अपने स्वरूप का भान हो गया है, जिसका ममत्व नष्ट हो गया है और जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, ऐसा जो साधु आत्मा का चिन्तन करता है वह साधु शुभ ध्यान में लीन होता है। सकल विकल्पों को छोड़कर अनन्त सुखस्वरूप आत्मा का आनन्दपूर्वक ध्यान करना ही श्रेष्ठ धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान के चार भेद कहे हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक-विचय और संस्थानविचय। ये चारों प्रकार का धर्मध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुण स्थानवर्ती जीवों को होता है। यद्यपि मुख्य रूप से यह पुण्य बन्ध का कारण है, फिर भी परम्परा से मुक्ति का कारण है। इन चारों धर्मध्यानों का स्वरूप इस प्रकार है—अपनी बुद्धि मन्द होने और किसी विशिष्ट गुरु का अभाव होने पर जिन भगवान द्वारा कहे गये नौ पदार्थ और उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्याय से युक्त छह द्रव्यों की सूक्ष्म चर्चा का "जिन भगवान के द्वारा कहा हुआ तत्व बहुत सूक्ष्म है, युक्तियों से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। उसे जिन भगवान की आज्ञा समझकर ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि जिन भगवान मिथ्यावादी नहीं होते।" इस उक्ति के अनुसार श्रद्धान करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे तथा दूसरों के कर्मों का विनाश

होता है ऐसा विचारना अपायविचय धर्मध्यान है। अनादिकाल से यह जीव शुभाशुभ कर्मबन्ध में से पापकर्म का उदय होने पर नरकादि गति के दुःखों को भोगता आया है और पुण्यकर्म का उदय होने पर देवादि गति के सुखों को भोगता है, ऐसा विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है। लोक के स्वरूप का विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार धर्मध्यान के चार भेद हैं। मम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव राग द्वेष की शान्ति के लिए शुभ भावों से इन धर्मध्यानों को ध्याते हैं। इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगों की चाह को सदोष जानकर मन्दकषायी भव्य जीव निर्जन एकान्त स्थान में पल्यंकासन लगावे और अपनी गोद में बाई हथेली के ऊपर दाहिनी हथेली को रखकर तथा दोनों नेत्रों को नासिका के अग्रभाग में स्थापित करने शुभ ध्यान करे। धर्मध्यान के दस भेद भी कहे हैं—इस अनादि संसार में स्वच्छन्दं विचरण करने वाले जीव के मन वचन और काय की प्रवृत्ति विशेष से संचित पापों की शुद्धि कैसे हो ऐसा विचारना अपायविचय धर्मध्यान है अथवा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में फँसे हुए जीवों का कैसे उद्धार हो ऐसा विचार करते रहना अपायविचय धर्मध्यान है। मेरे मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति कैसे हो ऐसा विचार करना अथवा दर्शनमोहनीय के उदय के कारण जीव सम्यग्दर्शन वगैरह से विमुख हो रहे हैं, उनका उद्धार कैसे हो इसका विचार करना उपाय विचय धर्मध्यान है। जीव का लक्षण उपयोग है, द्रव्यदृष्टि से जीव अनादि और अनन्त है, असंख्यात प्रदेशवाला है, अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मो के फल को भोगता है, अपने शरीर के बराबर है, आत्म प्रदेशों के संकोच और विस्तार धर्मवाला है, सूक्ष्म है, व्याघात रहित है, ऊपर को गमन करने का स्वभाववाला है, अनादि काल से कर्मबन्ध से बँधा हुआ है उसके क्षीण होने पर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव के मुक्त और संसारी स्वरूप का विचार करना जीवविचय नामक तीसरा धर्मध्यान है। जीव से विलक्षण पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन अचेतन द्रव्यों की अनन्त पर्यायों के स्वरूप का चिंतन करना अजीवविचय नामक चौथा धर्मध्यान है।

आठों कर्मों की बहुत सी उत्तम प्रकृतियाँ हैं उनमें से शुभ प्रकृतियों का रस गुड़ शक्कर और अमृत की तरह मधुर होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का विपाक शैली की तरह कटु होता है। कर्म बन्ध चार प्रकार का है। किस-किस गति और किस योनि में जीवों के किन-किन प्रकृति का बन्ध आदि होता है, इस प्रकार कर्मों के विपाक का विचार करना विपाक विचय नाम का पाँचवाँ धर्मध्यान है। यह शरीर अनित्य है, अरक्षित है, नष्ट होने वाला है, अशुचि है, सात धातुओं से बना है, पवित्र वस्तु भी इसके संसर्ग से दूषित हो जाती है। इसमें जो भी इन्द्रियाँ हैं, वे उत्तर काल में दु:खदायी है। ज्यों-ज्यों भोगी पुरुष इनसे भोग भोगता है, इसकी भोग तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे ईंधन से अग्नि की और नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती है इसी प्रकार इन्द्रिय वासनाओं से शरीर की तृप्ति नहीं होती है। इस प्रकार वैराग्य के कारणों का चिन्तवन करना वैराग्यविचय नाम का छटा धर्मध्यान है।

सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत संवृतविवृत ये नौ योनियाँ हैं। इन योनियों में जीव जन्म लेता है। यदि यह जीव एक भव से दूसरे भव में जाता है तो इसकी गति चार प्रकार की होती है। इषुगति, पाणि मुक्ता गति, लांजिका गति, गोमूत्रिका गति। इषुगति बाण की तरह सीधी होती है, इसमें एक समय लगता है। यह मुक्त जीवों के होती है। शेष तीनों गतियाँ संसारी जीवों के ही होती हैं। पाणि मुक्ता गति एक मोड़ वाली होती है, इसमें दो समय लगते हैं। लांजिका गति दो मोड़वाली होती है। इसमें तीन समय लगते हैं। इस प्रकार अनादि काल से संसार में भटकते हुए जीव के गुणों में कुछ भी विशेषता नहीं आती है इत्यादि रूप से बहुत भ्रमण के दोषों का विचार करना बहुविचय नाम का सातवाँ धर्मध्यान है। अनित्य अशरण आदि 12 भावनाओं पर विचार करना संस्थान धर्मध्यान है। आप्त को प्रमाण मान कर अत्यन्त परोक्ष पदार्थों में आस्था रखना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। आगम के विषय में प्रमाद होने पर नैगम आदि की गौणता और प्रधानता के योग से तर्कशील मनुष्य अपने आगम के गुणों को और अन्य आगम के दोषों को जानकर जहाँ गुणों का आधिक्य हो उससे मन को लगाना

श्रेष्ठ है। इस अभिप्राय को दृष्टि में रखकर जो तीर्थङ्करों के द्वारा प्ररूपित अविरुद्ध आगम का चिन्तन करता है वह हेतु विचय धर्मध्यान है। इस प्रकार धर्मध्यान के दस भेद हैं।

प्रकारान्तर से धर्मध्यान के दो भेद हैं—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य आनन्द से भरपूर अपनी आत्मा में उपादेय बुद्धि करके मैं अनन्त ज्ञान वाला हूँ, मैं अनन्त सुख रूप हूँ इत्यादि भावना करना यह आभ्यन्तर धर्मध्यान है।

बाह्य धर्मध्यान—पंचपरमेष्ठी में भक्ति रखना, बहिरंग धर्मध्यान है।

धर्मध्यान चार प्रकार का भी है, पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, ये चारों आभ्यन्तर है। इसका वर्णन पहले आ चुका है। परन्तु यहाँ आवश्यकता के अनुसार धर्मध्यान का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। इस प्रकार जो योगी अपने मन वचन काय से अर्थात् बाह्य पदार्थ से युक्त होकर अपने अन्तरंग में अपनी आत्मा में लीन होकर इस धर्मध्यान का चिन्तवन करता है वह शीघ्र ही संसार से छुटकारा पाकर अखण्ड अविनाशी सुख को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आचार्य ने धर्मध्यान का विवेचन किया है। योगी को सम्बोधन करते हुए कहा है—हे योगी! जहाँ तुझे धर्मध्यान में बाधा आती है, जिस जगह तेरे मन में विकार आता है, अप्रसन्न होता है, ऐसे स्थान को छोड़ कर एकान्त वासी बन। ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं।

जैसे बकरी गन्ने के बाहरी पत्ते खाकर भीतर के मीठे रस को छोड़ देती है उसी तरह बहिरात्मा बाह्य वस्तु को अपना इष्ट मान कर भीतरी शुद्धात्मा को हेय मानता है। ऐसा कहते हैं—

पोरागण सोणं कबिरे कुरि मेयमोलमृतमयन कूटद तेरनं।
नेरेयरि यदवनं विषय क्केरगुगुमेकेरगलरेय नरिदव नेंतुं॥72॥

अर्थ—गन्ना होते हुए भी बकरी गन्ने के बाहर के पत्ते को खाती हैं उसी तरह अपने अन्दर रहने वाले अमृतमयी शुद्ध चिदानन्द आत्मा को न समझकर या उसका अनुभव न करके बहिरात्मा इन्द्रिय विषयों की ही आशा करता है। ऐसा बहिरात्मा जीव चिदात्मा में आसक्त होकर क्या उसका अनुभव

कर सकता है? अर्थात् नहीं।

विवेचन—ग्रन्थकार यह कहते हैं कि गन्ने को खाते हुए भी बकरी उस गन्ने के रस के स्वाद का आस्वादन न करके बाहरी हरे पत्तों को खाकर तृप्त हो जाती है, उसी तरह बहिरात्मा जीव अपने अन्दर ही अनन्त सुख के भण्डार अखण्ड अविनाशी अमृतमय आत्मा का रसास्वाद न करके बाह्य विषय वासना की इच्छा करके उससे ही तृप्त होना चाहता है। ऐसे जीव को कभी भी शुद्ध आत्मा के अन्दर रस नहीं आ सकता है और उसको मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

बहिरात्मा को बाहर की ममत्व भावना को त्याग लेने के बारे में कहा है।

नयन्सर्वाशुचिप्रायं शरीरमपि पूज्यताम्।
सोप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत्॥

शरीर का वास्तविक स्वरूप विचारा जाय तो अत्यन्त ही निंद्य है। हाड़, मांस, रुधिर, मल, मूत्र इत्यादि अति अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है। शरीर का कोई भाग भी इन अपवित्र वस्तुओं के सिवा खाली नहीं हैं सर्वत: तन्मय है। शरीर सरीखी वस्तु को कोई दूर से देखना भी पसन्द न करे इतना यह शरीर निकृष्ट है। परन्तु तो भी आत्मा ने इस पर इतना बड़ा उपकार किया है कि इसे अपना साथ देकर लोक में आदर योग्य बना रक्खा है। ठीक ही है, आत्मा के सम्बन्ध से ही इसकी पूछ है। नहीं तो इसे कोई छूता व देखता तक नहीं। परन्तु यह शरीर इतना कृतघ्न है कि आज तक सघन सम्बन्ध रहते हुए भी इसने उस आत्मा को चांडालादि बनाकर स्पर्श के योग्य भी नहीं रक्खा है। इसने सदा भलाई के बदले में बुराई की। अपने पर उपकारी के साथ इतनी सहानुभूति भी न दिखाना, उससे इतना विमुख रहना, अत्यन्त नीचता है। इसकी कृतघ्नता को धिक्कार है।

जब कि यह इतना कृतघ्न है तो इससे कभी लाभ न होकर अपने को सदा हानि ही होना सम्भव है। इसीलिए इसे त्याग देना व इससे अपेक्षा रखना ही ठीक है।

भला, इसे त्यागे तो किस तरह?

रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्यादिवित्तः।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः॥
भागद्वयमिदं नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम्।
भागद्वयात् पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित्॥

यदि आत्मा को शरीर से जुदा करना है तो प्रथम शरीरांश व आत्मांशों को पहिचान कर, जुदा समझ ले। ऐसा करने से आत्मा को शरीर से जुदा कर लेने में कोई कठिनाई न पड़ेगी। अच्छा तो यों ही करिये।

हाड़ मांस वगैरह चीजों का जो अपने साथ यह पिंड संलग्न हो रहा है, पहिला तो यह एक सर्वप्रसिद्ध विभाग है, जो कि सुगमता से शरीर के नाम से जुदा समझा जा सकता है। इसके बाद इसके सिवा दूसरा एक भाग संसारबद्ध जीव पर्याय का वह है जो शरीर का मूल कारण है, वह अत्यन्त परोक्ष है परन्तु सब से अधिक या वास्तव में आत्मा को रोककर उसे मलिन व दुःखी बना रहा है। उसको कर्म कहते हैं। ज्ञानावरणादि अनेक उत्तर भेद हैं। इस जीव पर्याय में तीसरे विभाग की कल्पना करें तो यह स्वयं आप है। अर्थात्, जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा जुदा समझने में आता है, वह ज्ञानादि गुणों का पिण्ड आत्मा तीसरा विभाग है। इस प्रकार एक तो स्वयं आप और दूसरा प्रत्यक्षगोचर शरीर भाग और तीसरा कर्म या लिंगशरीर अथवा सर्व संसार का बीजभूत कारण। ऐसे संसारापन्न जीव में तीन प्रकारों की कल्पना बैठती है। इन्हीं तीन वस्तुओं का एकीभूत पिण्ड होने से इसे संसारी जीव या बद्ध आत्मा कहते हैं। ये तीनों भाग सदा से मिलकर एकीभूत हो रहे हैं। जब तक संसार है तब तक इन तीनों का बन्ध नित्य लगा हुआ है।

जो बहिरात्मा पूरे अज्ञानी हैं वे शरीर को ही अपना स्वरूप मानते हैं। जो कुछ आगे चलकर कार्य कारण का विचार करने लगते हैं, वे भी वास्तव में अज्ञानी ही हैं, क्योंकि कर्मों के स्वरूप को उन्होंने चाहे कुछ समझ लिया हो परन्तु आत्मा को संकल्प मात्र से या शास्त्राज्ञामात्र से मान लिया है, वास्तव में आत्मा को स्वयं समझ नहीं पाये हैं उन्हीं को कहीं-कही पर द्रव्यलिंगी के

नाम से पुकारते हैं। यहाँ तक के दोनों प्रकार के जीव अज्ञानी ही हैं, क्योंकि उन्होंने वास्तविक तत्व को नहीं पाया है। हाँ, सच्चा तत्व ज्ञानी वह है कि जिसने शरीर व कर्म इन दोनों भागों से ज्ञानादि गुणयुक्त अमूर्त आत्मा को जुदा करके उसका स्वरूप समझ लिया है और जो शरीर का नाश करके अपने को संसार से युक्त कर सकता है। जो इतना ज्ञानी बन चुका है वह किसी प्रकार का कष्ट न उठाकर सहज ही आत्मा को छुड़ा सकता है।

परिवारादिक की चिन्ता से मोक्ष नहीं मिलता, ऐसा निश्चय करते हैं—हे जीव! तू घर परिवार वगैरह की चिंता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता, इसलिए उत्तम तप का ही बारम्बार चिंतवन कर, क्योंकि तप से ही श्रेष्ठ मोक्ष सुख को पा सकेगा।

तू गृहादि पर वस्तुओं का चिंतवन करता हुआ कर्म कलंक रहित केवल ज्ञानादि अनंतगुण सहित मोक्ष को नहीं पावेगा, और मोक्ष का मार्ग जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रय है उसको भी नहीं पावेगा। इन गृहादि के चिंतवन से भव वन में भ्रमण करेगा। इसलिए इनका चिंतवन तो मत कर, लेकिन बारह प्रकार के तप का चिंतवन कर। इसी से मोक्ष पायेगा। वह मोक्ष तीर्थङ्कर परमदेवाधिदेव महापुरुषों के आश्रित है, इसलिए सबसे उत्कृष्ट है। मोक्ष के समान अन्य पदार्थ नहीं। यहाँ पर द्रव्य की इच्छा को रोककर वीतराग परम आनन्दरूप जो परमात्म स्वरूप है उसके ध्यान में ठहर कर घर परिवारादिक का ममत्व छोड़, एक केवल निजस्वरूप की भावना करना यही तात्पर्य है। आत्म भावना के सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है।

बहिरात्मा अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करता है—

आनन्दसपनं नेने दानदं मनेयददवते विषपद सुखम्।
तानरसि यरुगुतिर्कु ध्यानद सुखदेडयनरिवने पेरतं॥73॥

अर्थ—आनन्द रूप ऐसे चिदात्मा का ध्यान करके आनन्द को न मानने वाला बहिरात्मा इन्द्रिय विषय को अन्वेषण करने में रात दिन रत रहता है और उसी की पूर्ति करने के लिए मन में चिन्ता दु:ख और परेशानी उठाता है। ऐसे व्यक्ति योगी के मन में ध्यान के द्वारा होने वाले सुख का अनुभव कभी

नहीं कर सकते। उसका अनुभव अन्तरात्मा ही कर सकता है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि विषय सुख में हमेशा रत रहने वाला बहिरात्मा ध्यान में योगी द्वारा अनुभव किये जाने वाले आत्मानन्द का अनुभव कभी नहीं कर सकता इसका अनुभव अन्तरात्मा ज्ञानी जीव ही कर सकता है। किसी ने पूछा कि अरे मिठाई का स्वाद कैसा होता है तो उसने जवाब दिया कि बहुत मीठा होता है। बहुत मीठा कितना होता है, वह मीठा कैसा होता है, उसका वर्णन जिस प्रकार नहीं किया जा सकता और केवल वर्णन मात्र से मिठाई के स्वाद का अनुभव नहीं किया जा सकता है चाहे कितनी भी मिठाई की तारीफ की जाये, बिना खाये अनुभव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उस आत्मानन्द का स्वाद केवल ज्ञानी जीव ही ले सकता है। किसी ने मिष्ठान भोजन किया, तत्पश्चात् उसकी तारीफ करने लगा। लोग स्वाद के बारे में पूछते हैं तो वह उत्तर देता है कि बहुत रुचिकर था किन्तु जब तक भोजन को खाकर उसका अनुभव नहीं किया जायेगा तब तक उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी तरह आत्मा का अनुभव जिस बहिरात्मा को नहीं है, वह ज्ञानी के अन्तरंग में आने वाले ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकता। अज्ञानी बहिरात्मा हमेशा बहिरंग की रुचि होने के कारण बाह्य पदार्थों से अनेक प्रकार के दु:ख उठा रहा है। इसलिए बहिरात्मा के बारे में आचार्य ने बताया है कि दु:ख को बढ़ाने वाले मोह के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यहाँ आचार्य ने कहा है कि—

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता।
गुर्वी दु:खपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते॥
तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम्।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम्॥

जिस संसार में इसी एक शरीर में ही स्थिरतापने की बुद्धि करके नाना प्रकार के पाप कर्मों को करते हुए आत्मा ने बड़े भारी दु:खों की संतान को बढ़ाने वाली अवस्था प्राप्त कर ली है उसी प्रकार संसारमें ममता रहितपने को

या वीतरागभाव को स्थापित करने वाले आत्मा से कौन सी बड़ी भारी सम्पदा नहीं प्राप्त कर ली जा सकती है कि जिसको इन्द्र, चक्रवर्ती या नारायण नहीं प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् अवश्य मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति की जा सकती है।

यहाँ पर आचार्य ने दिखलाया है कि ममता ही दु:खों को बढ़ाने वाली है व ममता का त्याग ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाला है। इस संसार में इस जीव ने अनन्तकाल से भ्रमण करते हुए अनन्त शरीर में रह कर व उसी में लिप्त होकर बहुत से कर्मों का बन्धन किया। जिस कार्य बन्ध के कारण संसार में भ्रमण करता रहा। अब यह मानव जन्म पाया है। यदि फिर भी इस शरीर में व शरीर के भीतर इद्रियों में ममता की जावेगी तो ऐसा कर्मो का बन्ध होगा जिससे इस जीव को नरक निगोद आदि गतियों में जाकर दु:खों की परिपाटी को बढ़ावा मिलेगा फिर मानव जन्म का मिलना ही दुष्कर हो जायेगा और यदि यह मानव बुद्धिमानी से इस क्षणभंगुर व अपवित्र शरीर पर ममत्व न करे और अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान कर उसका ध्यान करे तो यदि शरीर उच्च स्थिति का हो व मोक्ष पाने योग्य सामग्री हो तो उसी जन्म से मोक्ष की अनुपम सम्पदा को पा सकता है। और यदि शरीर मोक्ष के पुरुषार्थ के योग्य न हो तब भी उत्तम संयोगों के पाने का पात्र होता हुआ परम्परा मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। मोक्ष की सम्पदा अनुपम है। वह आत्मीक है, पराधीन नहीं है। वह आत्मा का ही अनन्त ज्ञान, सुख वीर्य आदि है। इस मुक्ति की सम्पत्ति को इन्द्र चक्रवर्ती व नारायण आदि भी नहीं पा सकते। वास्तव में आत्मज्ञानी व आत्मध्यानी ही ऐसे सुख के अधिकारी हैं। जो शरीर के दास हैं वे ही संसार के दास हैं, वे ही अनन्तकाल तक भ्रमण करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानी जीव को इस क्षणिक शरीर में मोह न करके नित्य निरंजन निज आत्मा में ही प्रेम बढ़ाना उचित है।

निश्चयपंचाशत में पद्मनंदि मुनि ने कहा है कि जब मन का मोह शरीरादि से छूट जाता है और यह मन आनन्द सागर में डूब जाता है तब मन में जो कुछ प्रतिभास होता है यही एक परम चैतन्यमय ज्योति है और वह जयवंत रहो।

आगे आचार्य कहते हैं कि शरीर का दासपना करोगे तो आत्मा का बुरा होगा और जो आत्मा का हित करोगे तो शरीर का दासपना छूटेगा। वास्तव में जो मानव स्त्री, पुत्र, धन सम्पदा में मोहित हो जाते है अथवा अपनी आत्मा के भीतर कर्मों के उदय से पैदा होने वाले रागादि भावों में तन्मय रहते हैं वे मोही जीव रातदिन धनादि सामग्री के एकत्र करने में, रक्षण करने में व विषय भोगों में लगे रहते हैं। वे इन कामों से शरीर की रातदिन चाकरी करते हैं, उसको बड़े आराम से रखते हैं। वे किंचित् भी कष्ट सहकर अपनी आत्मा के हित की तरफ ध्यान नहीं देते, उनसे न जप होता है न तप होता न व्रत पाल सकते हैं न वे दर्शन पूजा स्वाध्याय करते है न वे पात्रों को दान देने का कष्ट उठाते हैं न वे सामायिक करते हैं न संयम पालते है न शुद्ध भोजन करते हैं, वे हिंसादि पापों को स्वच्छन्द वृत्ति से करते हुए व तीव्र विषयवासना में लिप्त होते हुए ऐसे पाप कर्मो को बाँध लेते हैं जिनसे इस आत्मा को दुर्गति में जाकर घोर संकट भुगतना पड़ता है और उसको उद्धार का मार्ग मिलना कठिन हो जाता है। जो बुद्धिमान इस मानव देह को धर्म साधन में लगाते हैं जप, तप शील-संयम पालते हैं, ध्यान स्वाध्यान करते हैं वे अपनी आत्मा का सच्चा हित करते हैं उसे सच्चे सुख का भोग कराते हैं, उसे मुक्ति के मार्ग पर चलाते हैं, यद्यपि इस तरह वर्तन करते हुए शरीर को काबू में रखना पड़ता है, तब शरीर अवश्य पहले की अपेक्षा कुछ सूखता है। इतना ही नहीं, ये सब कार्य जो मोक्ष मार्ग के साधन हैं वे वास्तव में शरीर के नाश के ही उपाय हैं। इन साधनों से कुछ काल के पीछे शरीर का सम्बन्ध बिल्कुल भी न रहेगा और यह शरीर ऐसा छूट जायगा कि फिर इसको यह आत्मा कभी नहीं ग्रहण करेगी। ऐसी व्यवस्था है तब ज्ञानी को यही करना उचित है कि शरीर जो पर पदार्थ है उसके पीछे अपना बुरा न करे। उसे शरीर के मोह में नहीं पड़ना चाहिए और शरीर का सम्बन्ध ही न मिले, ऐसी ही उपाय करना चाहिए अर्थात् आत्मा के हित के लिए तप आदि आत्मध्यान को बड़े भाव से करना चाहिए।

जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है तब तक जीव यह मेरा और यह तेरा है ऐसा रागद्वेषादि मोह भाव रखता है। वैराग्य होने के बाद यह राग और मोह भी बिल्कुल नष्ट हो जाता है। ऐसा कहते हैं–

एन्नेवरं वैराग्यं तन्नोळेतळेदोरदेन्नेवरमोलवक्कुं।
तन्नं तानरिवुत्तिर्पन्नेयवरं विषय सुखदोलोलवादपुदै॥74॥

अर्थ—जब तक अपने अन्दर ही वैराग्य उत्पन्न होता है तब तक यह जीव बाह्य विषय में ही संतोष मानता है। अपने को आप जानने के बाद विषय सुख में संतोष नहीं होता है ऐसा इसका तात्पर्य है॥74॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इस जीव को जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है, तब तक विषय वासनाओं में संतोष मानता है। जब आप अपने अन्दर ही अपने को जानता है तब बाह्य पंचेन्द्रिय विषय वासना के प्रति उसको अरुचि उत्पन्न होती है। तब वह जीव उन पर पदार्थों से मुख मोड़कर अपने आत्म सम्मुख होता है। तब बाह्य आडम्बर दुनिया के खेल तमाशों से घृणा उत्पन्न हो जाती है और उन वैरागी जीवों को यह जगत पागल या इन्द्रजाल के समान प्रतीत होने लगता है। अर्थात् उस वैरागी पुरुष के अन्दर ऐसा भासने लगता है कि इस जगत के जीव पंचेन्द्रिय विषय रूपी मद्य पी नट के समान संसार रूपी अखाड़े में अपनी सुध बुध को भूलकर नशे के आवेश में मूर्छित होकर नाच रहे हों जैसे हँस पक्षी दूध और पानी में से दूध को ग्रहण करके पानी को छोड़ देता है। उसी तरह यह स्व पर का ज्ञानी जीव अन्तरात्मा बनकर शरीरस्थ अपने आत्म स्वरूप का अनुभव करते हुए बाह्य विषय वासना से अलिप्त रहता है। अर्थात् विषय वासना में रहते हुए भी अपने अन्तंरग से उस शरीरादि पर द्रव्य को हेय समझ कर सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन रहता हैं। उस जीव की अज्ञान अवस्था नष्ट होकर सुज्ञान अवस्था हो जाती है। उन्हीं को परम योगी कहते हैं। विरागी जीवात्मा पर द्रव्य सम्बन्धी यह विचार करता है कि—

सर्वनश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
काये रूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा॥
यत्तत्रापि विधीयते वतकुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवलं श्रमकरे न व्यापृियंते बुधाः॥

जैसे मिट्टी की मूर्ति पानी में रखने से गल जाती है वैसे ही संसार के जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर हैं। जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होने वाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं के रहने का क्या ठिकाना? असल बात यह है कि जगत का यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नहीं होते न नवीन पैदा ही होते हैं परन्तु उन द्रव्यों की जो अवस्थाएं होती हैं वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। अवस्थाएं कभी भी स्थिर नहीं रह सकती हैं। हम सबको अवस्थाएं ही दीखती हैं। तब ही यह रातदिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमूक मकान बना व अमुक गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नाश होने वाले हैं। करोड़ों की सम्पत्ति क्षणभर में नष्ट हो जाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षणभर में काल के गाल में समा जाता है। यौवन देखते देखते विलय हो जाता है, बल जरासी देर में जाता रहता है। संसार के सर्व ही कार्य स्थिर नहीं रह सकते हैं जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अस्थिर कार्यों के लिए उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्र पद व चक्रवर्ती पद भी नाश होने वाला है। इसलिए वह तो ऐसे कार्य को सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन शुद्ध स्वभाव का लाभ है जो मलीन नहीं हो सकता और तब यह अनन्तकाल के लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते हैं, वे सफलता देने वाले कार्यों का ही उद्यम करते हैं।

जब तक मिथ्यात्व भाव इस जीव के अन्दर रहता है तब तक ही स्त्री पुत्रादि विषयसुख को अच्छा मानता है–

मोहांधानां स्फुरति हृदये बाह्यमात्मीयबुध्या।
निर्मोहानां व्यपगतमल, शश्वदात्मैव नित्यः॥
यत्तद्भेदं यदि विविदिषा ते स्वकीयं स्वकीयै-।
र्मोहं चित्त! क्षपयसि तदा किं न दुष्टं क्षणेन॥

मोह से अन्धे जीवों के हृदय में बाह्य स्त्री, पुत्र शरीरादि पदार्थ अपनी आत्मापने की बुद्धि से अर्थात् वह अपना ही है ऐसा झलकता है। मोह रहित पुरुषों के हृदय में कर्म मैल से रहित अविनाशी आत्मा ही सदा अपनेपन की बुद्धि से झलकता है। हे मन! अगर तू इन दोनों के भेद को समझ गया है तब अपनों से अर्थात् इन स्त्री पुत्रादि से जिन को तूने अपना मान रक्खा है अपनेपन का मोह क्यों नहीं क्षण मात्र में नाश कर देता है।

पर वस्तु की भावना मत लाओ—

भाविसिदुदनेंदुं वीं भाविसिदिरू मुन्नमेंदुभाविसदुद नीं।
भाविसलु मूडुगं यद्भावं तद्भवतियेंबुदु परमार्थ ॥75॥

अर्थ—हे जीव! जो तू अनादि काल से इंद्रिय विषय सम्बन्धी जिस पर पदार्थ की भावना करता आया हैं, उस भावना को मत बढ़ा। जिसकी भावना को भाया जाता है भावना को भाने से वह अपने अन्दर ही उत्पन्न हो जाती है "यद्भावं तद्भवति" इस कहावत के अनुसार यथार्थ है॥75॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह भाव दर्शाया है कि हे जीव! अनादि काल से आज तक तूने जिसकी भावना भाई है उसको बारबार भाने से क्या लाभ? क्योंकि यह तो अनादि काल से भाते आये हैं और अनेक बार इसका परिचय भी करते आये हैं। इस इन्द्रिय विषय के सेवन के लालच से चौरासी लाख योनि में प्रवेश करके वहाँ के सुख दुःखों का अनुभव करता आया है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सैनी और असैनी के पर्याय में बार बार जन्म लेकर खूब उनका अनुभव किया, अनेक योनियों में जन्म लेकर उस पर्याय की माता का दूध पिया। उस योनि के माता या पिता का वियोग होने से उनके मोह के कारण कितना शोक किया। उस पर्याय वाली माता ने तेरे लिए कितने रुदन किये। मोह के कारण तू वहाँ से दूसरी पर्याय में जाकर कितनी बार उत्पन्न हुआ। नरक में कितनी बार जन्म लेकर नारकी बना? उस नरक की वेदना का अनुभव कितनी बार किया। कितनी बार पशु पर्याय धारण कर उस पर्याय का अनुभव किया। मनुष्य पर्याय धारण करके कितनी बार मनुष्य गति सम्बन्धी इन्द्रिय भोग विषय का अनुभव किया। मनुष्य भव से पुण्य

उपार्जन करके कितनी बार देवगति के सुख का अनुभव किया? पुण्य के योग से चक्रवर्ती पद धारण कर षट्खण्ड पृथ्वी को भोगा और छियानवे हजार स्त्रियों के साथ विषय भोग भोगकर उनके साथ रति का अनुभव किया?

परमार्थ प्रकाश में भी कहा है कि—

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि।
मा णिय-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि॥

निर्दोष निज परमात्मा की अनुभूति की रुचि रूप तीन गुप्तिमयी जो निश्चय चारित्र उससे अविनाभावी (तन्मयी) जो वीतराग-निश्चयसम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ जीव, जो तू मरण भी पावे, तो दोष नहीं, और उस सम्यक्त्व के बिना मिथ्यादृष्टि अवस्था में पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है। जो सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित है तो भी पापी ही कहा जाता है। तथा जो सम्यक्त्व सहित हैं वे पहले भव में उपार्जन किये हुए पाप के फल से दु:ख दारिद्र भोगते हैं तो भी पुण्याधिकारी ही कहे जाते हैं। इसलिए जो सम्यक्त्व सहित हैं, उनका मरना भी अच्छा। मर कर ऊपर को जावेंगे और जो सम्यक्त्व रहित हैं, उनका पुण्य कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है। वे पुण्य के उदय से क्षुद्र (नीच) देव तथा क्षुद्र मनुष्य हो संसार वन में भटकेंगे। यदि पूर्व के पुण्य को यहाँ भोगते हैं, तो तुच्छ फल भोग के नरक निगोद में पड़ेंगे। इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य भी भला नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगें, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्य के उदय से देव भी हुए हैं, तो भी देव लोक से आकर एकेंद्री होवेंगें। ऐसा दूसरी जगह भी "वर" इत्यादि श्लोक कहा है, कि सम्यक्त्व सहित नरक में रहना भी अच्छा और सम्यक्त्व रहित का स्वर्ग में निवास भी नहीं शोभा देता।

इसी प्रकार समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥41॥स.सा.

इस लोक में सभी जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़े पाँच परावर्तन रूप

भ्रमण करते हैं। वहाँ पर मोहकर्म के उदय रूप पिशाच से जोते जाते हैं, इसी कारण से विषयों की तृष्णा रूप दाह से पीड़ित होते हैं। उसमें भी उस दाह की शान्ति का उपाय इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जान कर उनकी ओर दौड़ते हैं और परस्पर में विषयों का ही उपदेश करते हैं। इसलिए काम (विषयों की इच्छा) तथा भोग (उनका भोगना) इन दोनों की कथा तो अनन्तबार सुनी, परिचय और अनुभव में आई, इस कारण सुलभ है। किन्तु सब परद्रव्यों से भिन्न चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आत्मा की कथा का न तो स्वयमेव कभी ज्ञान हुआ और जिनके हुआ, उनकी न कभी सेवा की, इसलिए इसकी कथा न कभी सुनी, और न वह कभी परिचय और अनुभव में ही आई। इस कारण आत्मा के एकत्व का पाना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है। इसलिए हे जीव। तू बाह्य पदार्थ से मोह को हटा के वैराग्य पूर्वक अपने आत्म ध्यान में लीन होकर इस संसार समुद्र से मुक्त होने का प्रयत्न कर। ये ही भगवान जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। कहा भी है कि—

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृति।
मुक्तिं नित्यनिरंतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम्॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते॥

यह संसार नाना प्रकार के उपद्रवों से भरा है, अत्यन्त मलीन है। आकुलताओं का घर है, इसमें स्वस्थपना नहीं है तथा मुक्ति नित्य निरन्तर श्रेष्ठ अत्मिक सुख से पूर्ण है और सब आपत्तियों से रहित है। इस बात को कोई कषाय से मोहित बुद्धि वाला ही प्राणी यथार्थ न समझे तो न समझे अन्यथा जो कोई बुद्धिमान है वह अनुपम श्रेष्ठ मुक्ति को छोड़कर इस असार संसार में किसी तरह राग करेगा?

इन्द्रिय सुखमं विसुटु जितेन्द्रिय नागिदुं निन्नं नीं भाविसु पंचे-।
न्द्रिय दिच्छेगे संदोड तीन्द्रिय सुख निनग देकेयनु भवमक्कुं॥76॥

अर्थ—हे जीव! तू पंचेन्द्रिय सुख को दूर करके जितेन्द्रिय बन और

अपनी भावना कर। स्वयं तू पंचेन्द्रिय सुख के वश में हो जाएगा तो तुझे अतीन्द्रिय सुख का अनुभव कैसे हो सकता है।

विवेचन—आचार्य इस श्लोक में जीव को संबोधन करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् जब तक तू पंचेन्द्रिय विषय-सुख को दूर नहीं करता, तब तक तुझे अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि तुझे अतीन्द्रिय सुख की इच्छा है और आत्मानन्द को प्राप्त करना चाहता है तो तुझे अतीन्द्रिय सुख का सेवन करना ही उचित है। यदि तू पंचेन्द्रिय सुख में निमग्न रहेगा तो अतीन्द्रिय सुख का अनुभव कैसे कर सकेगा। चक्रवर्ती सम्राट, तीर्थङ्करों को पूर्व जन्म के पुण्य के कारण अपार वैभव और सम्पत्ति होते हुए भी सुख शांति नहीं मिली। अन्त में उन्हें भी उस वैभव को छोड़ने पर ही सुख शांति मिल सकी। अत: पंचेन्द्रिय विषय में आज तक किसी को सुख नहीं मिला। अत: हे जीव! विषयों से सुख मोड़कर निजानन्द रस का पान करना ही तुझे योग्य है।

एक एक विषय के आधीन होकर इस जीव ने कितने दु:ख पाये हैं। फिर जो पंचेन्द्रिय विषयों में निमग्न हैं, उनके दु:ख का तो क्या कहना है।

इस संसार की वास्तविक दशा का यदि विवरण करना हो तो एक

उदाहरण द्वारा इस प्रकार हो सकता है। एक व्यक्ति कहीं जंगल में जा रहा था। उधर से एक मस्त हाथी चिंघाड़ता हुआ उसकी ओर दौड़ा। उस बेचारे पुरुष को बचने की कोई जगह नहीं मिली। उसे एक कुंआ दिखा। उसके ऊपर एक बड़ का पेड़ लगा हुआ था जिसकी शाखायें कुए में लटक रही थीं। वह एक डाल को पकड़ कर कुए में लटक गया। तब तक वह हाथी क्रोध में भरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और पेड़ को पकड़कर हिलाने लगा। वह व्यक्ति भय के मारे नीचे की ओर देखने लगा तो उसने क्या देखा कि नीचे चार साँप फन फैलाये हुए व्यक्ति को डँसने को तैयार बैठे हैं। यह देखते ही उसके होश उड़ गये। तब उसकी निगाह ऊपर को उठी। देखता क्या है कि वह जिस डाल को पकड़कर लटक रहा है, उस डाल को दो चूहे—एक सफेद और दूसरा काला—काट रहे हैं। अब तो प्राण जाने में कोई सन्देह नहीं रह गया। तभी उसके खुले मुँह में शहद की एक बूँद आ कर पड़ी। बात यों हुई कि पेड़ पर मधुमक्खियों का छत्ता था। हाथी द्वारा पेड़ हिलाने पर उसमें से शहद टपकने लगा था। वह उस शहद के स्वाद में मग्न होकर उस मृत्यु के भय को भी भूल गया। इतने में एक कोई साधु पुरुष आया और उससे बोला—तू क्या शहद के लोभ में इस अन्धकूप में लटक रहा है। जल्दी इसमें से निकल कर अपने प्राण बचा। ऊपर हाथी कुद्ध हुआ चिंघाड़ता है। वह तुझे छोड़ेगा नहीं। वह तुझे पेड़ हिलाकर कुए में डाल देगा। कुए में गिरा तो चार साँप तुझे काट लेंगे। यदि न गिरा तो ये दो चूहे इस डाल का जल्दी ही काट देंगे, तब तू बचेगा कैसे? इतने में शहद की बूंद फिर मुँह में आकर गिरी। वह फिर उसे चखने लगा बोला—बस, एक बूँद और चख लेने दो।

यह सांसारिक प्राणी की दशा है। यहाँ हाथी रूपी काल चिंघाड़ रहा है। चार गतियाँ चार साँप हैं और दिन-रात सफेद और काले चूहे हैं। शहद पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। यह प्राणी इन इन्द्रिय विषयों में लुब्ध होकर सिर पर आये हुए यमराज के भय को भी भुला देता है। आचार्य उसकी कल्याण-भावना से प्रेरित होकर उससे कहते हैं—अरे! इन इन्द्रिय विषयों से विमुख हो। सामने यमराज मुँह खोले खड़ा है। किन्तु विषय लोलुपी यह प्राणी कहता

है-बस जरा अमुक इन्द्रिय का विषय अनुभव कर लेने दो, तब मैं इन विषयों को छोड़ दूंगा और इसी तरह सारी आयु बीत जाती है। न वह इन्द्रिय विषय छोड़ पाता है, न कल्याण ही कर पाता है और यमराज उसे आकर उठा ले जाता है—उसकी आयु समाप्त हो जाती है। अत: आचार्य उसे संबोधन कर रहे हैं—तू इन विषयों से विमुख होकर आत्मानन्द का अनुभव कर। तब तेरा कल्याण होगा।

शब्दं ज्ञानमुमल्लवु शब्दं बागळेनुमरि यववेळुं।
शब्दमुने केळ्दु मुळिवै शब्दमुमं केळ्दुरागमं नीं माळ्पै॥77॥

अर्थ—हे जीव! शब्द ज्ञान रूप नहीं हैं, बल्कि जब तू शब्द की जानकारी करता है, उस समय वह सात प्रकार का होता है—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड़ज, मध्यम, दैवत और पंचम। ये सात प्रकार के शब्द तुझे नहीं जानते। इन्हें तू जानता है। तू इन शब्दों पर प्रेम करता है और द्वेष करता है। राग-द्वेष करता है। इससे तू कर्णेन्द्रिय विषय के आधीन होकर तूने अनेक दु:ख पाये, किन्तु तूने विचार नहीं किया कि शब्द जड़ है। यह आत्मा को नहीं जानता। आत्मज्ञान स्वरूप है। यह शब्द को जानता है। अत: जड़ शब्द पर तुझे राग-द्वेष करना ठीक नहीं। इसी शब्द जड़ के प्रति राग करके यह जीव इसके आधीन हुआ संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अज्ञानी जीव इसी जड़ शब्द के प्रति राग-द्वेष करके अनेक प्रकार के कर्म-बन्ध करता है। अत: शब्द को जड़ समझकर रूप-रस गन्ध स्पर्श रहित आत्मा का ज्ञान कर।

विवेचन—आचार्य ने यह बाताया है कि शब्द जड़ रूप है। वह पुद्गल का स्कन्ध है। उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है, वह अचेतन है। वह ज्ञान नहीं कर सकता। वह तुझे क्या जानेगा। बल्कि तू ही इसको जानता है। तू चेतनामय है, ज्ञान रूप है। जानना तेरा स्वभाव है। तू रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है। तू शब्द सुनकर किसी पर प्रेम करता है, किसी पर क्रोध करता है। कोई शब्द तुझे प्रिय लगता है, कोई अप्रिय लगता है। शब्दों पर यह राग-द्वेष परिणाम करना तेरी भूल है। शब्द तेरा कुछ बनाता-बिगाड़ता नहीं हैं। बल्कि अपने परिणामों से तू स्वयं ही अपना बिगाड़ रहा है। जड़ ने तेरा

कुछ नहीं किया। बल्कि जड़ के निमित्त से राग-द्वेष करके तूने अपना बिगाड़ा है। उसका प्रभाव तेरे ऊपर पड़ा है। उसका परिणाम तू अनादि काल से भोग रहा है और अब तक जन्म-मरण रूप संसार में भ्रमण कर रहा है।

आचार्य कहते हैं—अरे जीव! तुझे गायन से प्रीति है, गाली या अपशब्द तुझे कर्णकटु प्रतीत होते हैं। किन्तु जरा विचार कर तो देख। अपशब्दों ने तेरा क्या बिगाड़ा? तुझे उससे चोट क्यों लगती है, जबकि तू अरूपी है। तू अभेद्य अछेद्य है। तेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। तब तुझे क्रोध करने की क्या आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रेम वचन सुनकर, मधुर गाने सुनकर और अनुकूल बात सुनकर तू क्यों प्रसन्न हो उठता है। उन्होंने तुझे क्या दे दिया। शब्द सुनकर तू क्रोध-प्रेम-प्रसन्नता-रोष-हर्ष-विषाद-आसक्ति-वैराग्य-अयूसा-अनुकूलता आदि भाव करता है क्योंकि शब्दों को निमित बनाकर तेरे परिणाम इस प्रकार के हो जाते हैं किन्तु तू क्यों नहीं विचारता कि पुद्गल अपनी क्रिया करता है, वह करता रहे। मुझे उससे क्या लेना-देना है। वे अपना परिणमन चेतना के माध्यम से इस प्रकार का कर रहे हैं। जड़ की जो क्रिया जड़ में हो रही है, उसे होने दे। तुझे अपनी क्रिया अपने में करनी है। चेतना का सारा परिणमन चेतना में तुझे करना है। जिस तरह तुझे तेरे दर्शन हो सकें अर्थात् आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो सके, वैसे ही करना है और वह तभी हो सकता है, जब तू शब्दों के द्वारा होने वाले राग-द्वेष का त्याग कर दे।

दीखने वाला रूप ज्ञान नहीं है ऐसा कहते है।

रूपं ज्ञानमुमल्लवु रूपं बगेवागळेनुमरियववैदुं।
रूपमने नोडि मुलिवै रूपि नोलिते के रागमं नी माल्पै॥78॥

अर्थ—हे जीव! रूप, ज्ञान रूप नहीं है। पांच प्रकार के श्वेत, पीत, हरा, नीला, काला आदि जो ये रूप हैं ये रूप तुझको या तेरे स्वरूप को नहीं जानते हैं। फिर तू ऐसे रूप को देखकर उनको क्यों द्वेष करता है और रूप में इस तरह प्रेम क्यों करता है? ॥78॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि हे योगी! तू काला, पीला, नीला, हरा आदि रूप को देखकर क्यों रागद्वेष करता है? क्योंकि ये रूप तुझको अर्थात् स्वरूप को नहीं जानते हैं। तेरे स्वरूप को जानने वाले रूप को अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चेतना-रहित जड़रूप को देखकर उनसे द्वेष क्यों करता है? और वह रूप तुझको नहीं जानता है और वह जड़ है, तेरा रूप अरूप है, वह ज्ञान दर्शन चेतन स्वरूप है, रूपातीत है। ऐसा होते हुए, जानते हुए भी तू जड़ रूप से द्वेष करता है यह तो तेरे लिये उचित नहीं है। कदाचित् अपने धारण किये हुए शरीर के गोरे रूप रंग को देखकर उससे प्रेम करता है और काल रूप को देखकर द्वेष करता है।

अरे अज्ञानी जीव! तू सुरूप और कुरुप के प्रति रागद्वेष करके अत्यंत निंद्यगति को प्राप्त होता है और गधा, ऊँट, सुअर आदि अनेक पर्याय में जन्म लेकर अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है। दु:ख तुझे अपने अज्ञान के कारण ही उठाने पड़े हैं। आज दुनिया के मानव रूप के पीछे पागल होकर दौड़ रहे हैं। वे दूसरे के रूप को देखकर ईर्ष्या करते हैं, अपने रूप से प्रेम करते हैं। इस जड़ शरीरादि रूपी पदार्थ पर रागद्वेष करने में तुझे कौन-सा फायदा हुआ, इससे उलटा संसार में दीर्घ चक्कर ही काटता रहा है। इसलिये हे जीव! अब तू जड़ रूप का रागद्वेष मोह छोड़कर अपने अरूपी सच्चिदानन्द अखंड अविनाशी, अनेक गुण के भंडार, रूपातीत आत्मा के ऊपर प्रेमकर। इससे ही तुझे शांति मिलेगी अन्यथा कहीं पर शांति नहीं मिलेगी। जितने भी कुरूप-सुरूप शरीर या अन्य रूपी पर पदार्थ तुझे प्राप्त हुए हैं। ये भी पूर्वजन्म में ऊपार्जन किये हुए पुण्य न्याय के द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। परन्तु ये सभी पदार्थ पाप और पुण्य की मर्यादा को लेकर आये हैं। जिस समय ये मर्यादा पूर्ण होती है उसी दिन तुझे तकलीफ देते हैं। इसका कारण है मोह ही चतुर्गति भ्रमण के लिये तुझे कारण हुआ है। अब तू चेत और अपने शरीर रूप घट के बीच पड़े हुए अरूपी आत्मानंद का अनुभव कर।

इस जीव को संबोधन करते हुए गुणभद्राचार्य ने भी आत्मानुशासन में कहा है कि—

नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं।
प्रेष्य सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन्॥
नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-।
नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः॥64॥

अरे तू नेत्रादि इंद्रियों तथा मन का दास बन गया है। ये अपने अपने विषयों के लिये जैसे तुझे प्रेरित करती हैं, वैसे ही तू कलुषित होकर उन विषयों की तलाश करता हुआ भटकता है और खिन्न होता है। उन्हीं इन्द्रियों के वश होकर अनेक तरह के खोटे काम करके पापों का संचय भी खूब करता है परन्तु फिर समय पाकर उसके फल को तू ही जब भोगता है, तब दु:ख मानता है। इससे तू इन इंद्रियों को वश कर। रागद्वेष को दूर करके सर्व विषयों को छोड़, तथा अपनी आत्मा को समझ और आत्मीय सुख भोगता हुआ श्रेष्ठ शुद्ध आचरण द्वारा कर्म मल का सर्वथा नाश करके इस संसार के दु:ख से छुटकारा-निवृत्ति प्राप्त कर। जब तक इन बाह्य विषयों से उपरत न होगा, तुझे कभी सुख शांति प्राप्त नहीं होगी, यह निश्चय समझ।

क्योंकि रूप में मुग्ध होकर अर्थात् चक्षु इंद्रिय के आधीन होकर पतंग अपने ज्ञान को खोकर अग्नि में स्वाहा होता है। इसी तरह से जीव बाह्य पंचेन्द्रिय विषयों में मग्न होकर जड़ वस्तु के सम्पर्क में अनेक प्रकार के दु:ख भोग रहा है। अब तू चेत। बाह्य पंचेन्द्रिय वस्तु की लालसा को छोड़कर अपने निर्मल आत्म स्वरूप का अन्वेषण करके हमेशा के लिये सुखी बन जा। ऐसे श्री गुरू का उपदेश है। सारांश यह है कि:-

एक्के काले एक्कं णाणं जीवस्स होहि उवजुतं।
णाणा-णाणाणि पुणो लद्धि-सहावेण वुच्चंति॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोण इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों में से एक समय में एक ज्ञान ही अपने विषय को ग्रहण करता है। इसी तरह जिस समय मन से उत्पन्न हुआ ज्ञान अपने विषय को जानता है उस समय

इन्द्रिय ज्ञान नहीं होता। सारांश यह है कि इन्द्रिय ज्ञान का उपयोग क्रम से ही होता है। एक समय में एक से अधिक ज्ञान अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् उपयोग रूप ज्ञान एक समय में एक ही होता है।

शंका—आपने जो यह कहा है कि एक समय में एक ही इन्द्रिय ज्ञान का उपयोग होता है यह ठीक नहीं है, क्योंकि हाथ की कचौड़ी खाने पर घ्राण इन्द्रिय उसकी गन्ध को सूंघती है, श्रोणेन्द्रिय कचौड़ी के चबाने के शब्द को ग्रहण करती है, चक्षु कचौड़ी को देखती है। हाथ से उसका स्पर्श होता है और जिह्वा उसका स्वाद लेती है, इत तरह पाँचों इन्द्रिय ज्ञान एक साथ होते हैं। इस शंका का समाधान करते हैं। जीव एक समय में एक ही ज्ञान का उपयोग करता है। किन्तु लब्धि रूप से एक समय में अनेक ज्ञान कहे हैं।

गंध तेरा स्वरूप नहीं है ऐसा कहते हैं।

गंधं ज्ञानमुमल्लवु गंधं वगेवागळेमुमरियववेरडुं।
गंधक्के सोल्तु मेच्चुवे गंधक्केयदेकेपेसि मुळिसं माळ्पै ॥79॥

अर्थ—हे जीव! सुगंध या दुर्गंध ये दोनों ज्ञान रूप नहीं है। गंध दो प्रकार के हैं ऐसा मुझे प्रतीत है। परंतु अरे अज्ञानी आत्मन्! तू ऐसे जड़ गंध में मुग्ध होकर सुगंध दुर्गंध समझकर सुगंध के प्रति राग करता है और दुर्गंध के प्रति द्वेष करता है। अरे जीव! तू कितना अज्ञानी है। वे दोनों जड़ हैं और चेतन रहित हैं। तू उसके प्रति राग और द्वेष के द्वारा अशुभ पाप का बंध करता है। तेरे शरीर के अन्दर अनादिकाल से कर्मों के अन्दर दबे हुए निर्गन्ध आत्मानंद की गंध का अनुभव क्यों नहीं करता है? ॥79॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में इस अज्ञानी बहिरात्मा जीव को यह बतलाया है कि हे अज्ञानी आत्मन्! जड़ रूप सुगंध और दुर्गन्ध के प्रति राग द्वेष करके अगाध संसार समुद्र में प्रवेश करके उसमें डूबते हुए जीव ने क्लेश उठाया है। परंतु वे दोनों जड़ होने के कारण उन सुगंध और दुर्गन्ध ने तेरा कुछ बिगाड़ नहीं किया, परन्तु तू अज्ञान के कारण उन पर रागद्वेष करके व्यर्थ चारों गतियों में उसके निमित्त से दु:ख उठा रहा है। यह अज्ञानता है। यदि

तू अपने मन में विचार करके देख तब पता चलेगा कि मैं अनंत ज्ञान दर्शन सुख का भंडार रूप होते हुए भी जगत की वस्तु के प्रति राग द्वेष कर अपने आप दु:ख उठा रहा हूँ। जब तक तुझे सच्चा ज्ञान नहीं होगा तब तक जड़ के प्रति जमा हुआ तेरा अज्ञान दूर नहीं होगा। इस बात को तू ठीक समझले।

हे जीव! तू अगर कल्याण चाहता है तो बाहरी रूप रंग के प्रति जो तेरा ममत्व भाव है, रागद्वेष है, उसको मन पूर्वक त्याग करदे और अपने अन्दर स्थित शुद्धात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा कर। अरे मूर्ख! अनादि काल से भोगे हुए, प्राप्त किए हुए पंचेन्द्रिय विषयों की लालसा को छोड़। रूप पर मोहित होकर तूने अनेक पर्याय धारण किये। आज भी उत्कृष्ट मनुष्य पर्याय को पाकर रागद्वेष नहीं छूटता है यह कितने आश्चर्य की बात है। तुझे कहाँ तक समझाएँ। भगवान जिनेन्द्रदेव तुझे कितने प्रेम और करुणा भाव से समझा रहे हैं। हे अज्ञानी जीव! मनुष्य पर्याय में इसका त्याग नहीं करेगा तो किस पर्याय में करेगा। अब तू इसे छोड़कर साधु के असली स्वरूप को धारण कर तब तू तीन लोक में चमकेगा। गुणभद्र आचार्य ने कहा है कि साधु का असली स्वरूप कैसा होता है कि–

गेहं गुहा परिदधासि दिशो विहाय:।
संव्यानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धि:॥
प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणा: कलत्र-।
मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम्॥

ग्रन्थकर्ता साधुओं से कहते हैं कि तुम पूरे स्वतन्त्र हो। तुम्हें किसी भी चीज की ऐसी जरूरत नहीं है कि जिसके संग्रह के बिना तुम्हारा काम न चले देखो–

तुम्हारा घर का काम गुफाओं से चलता है, तुम्हें घर बांधने की आवश्कता नहीं है तुम दिगम्बर बन गये, इसलिए आजू-बाजू की दिशाओं के सिवा पहनने के लिए वस्त्रों के संग्रह करने की गरज नहीं रही। आकाश ही तुम्हारे लिए वाहन है। उसी में बसकर चाहे जहाँ विचरो। तप की अत्यन्त वृद्धि करने से भूख नष्ट होती है। वह भूख तुम्हें केवल तप की है। तप को खूब

बढ़ाओ, यही तुम्हारा कर्तव्य है, न कि भोजन की चिंता में समय बिताना। चारित्रादि अनेक गुण जो तुम्हें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं में तुम्हें स्त्री से भी अधिक रत होना चाहिए। जिन्हें गुण प्राप्त नहीं हो पाते वे अपना मन स्त्रियों में रमाते हैं। पर जिन्हें उत्तमोत्तम सच्चे कल्याणकारी भेद ज्ञानादि गुण प्राप्त हो चुके हैं उनका मन उन गुणों में आसक्त हो सकता है वैसा कहीं नहीं हो सकता। इसलिए उनको स्त्री से भी अधिक मनोरंजक गुण समझना चाहिए।

अब तू यदि विचार कर देखें तो तेरे लिए एक भी ऐसी चीज की जरूरत नहीं जिसके बिना कल्याण साधने की प्रवृत्ति रूक जाये। यदि कहीं से कुछ भी कभी न मांगना चाहे तो तेरा काम चल सकता है। प्रत्युत न मांगने पर ही यह तेरी दशा प्रशंसा योग्य व कल्याण साधने वाली हो सकती है। यदि तूने याचना करने का विचार किया तो तेरी आत्मा मलिन व दीन बन जायगी जिससे कि तेरे कल्याण में बाधा उपस्थित होना संभव है। जो मनुष्य अपने को उत्कृष्ट व समर्थ समझकर किसी उत्तम ध्येय को साधना चाहता है वही उस अभीष्ट मनोरथ को पूरा कर सकता है। याचना करने वाला अपने को असमर्थ दीन समझने लगता है। इसलिए उसके हाथ से उत्कृष्ट ध्येय पूरा नहीं हो पाता। जब कि तूने अपने मोक्ष रूप सर्वोत्कृष्ट ध्येय को समझ लिया है तो वृथा याचना करके तू दीन क्यों बनता है? तू स्वतन्त्र समर्थ होसके इसीलिए गुरुओं ने तेरा कल्याण मार्ग सर्वथा स्वतन्त्र कर दिया है। इसलिए यदि तुझे जंजालों से मुक्त होना है तो किसी भी चीज के लिए किसी से वृथा याचना मत कर। देख,–

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिनानिनौ॥

कितने ही मनुष्य परमाणु को छोटी से छोटी चीज व आकाश को बड़े से बड़ा मानते हैं। परन्तु उनका यह कहना तभी तक टिक सकता है। जब तक कि उनके सामने दीन व अभिमानी आकर खड़े न हुए हों। जो याचना करता है वह दीन कहलाता है और जो कैसा भी कष्ट आने पर याचना नहीं करता वह अभिमानी-स्वाभियानी आकाश से भी बड़ा, गंभीर, महान दीखता है और

दीन परमाणु से भी तुच्छ बन जाता है। दीन के विचार व आत्मा संकुचित हो जाते हैं। इसीलिए उसे लोग अति तुच्छ समझते हैं और वह आप भी अपने को अति तुच्छ मानता है। अभिमानी जो कि कभी याचना नहीं करता, अपने विचारों व आत्मा को पूरा विकसित व प्रसन्न रखता है। उसकी प्रसन्नता व गम्भीरता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। यद्यपि दीन व अभिमानी के साथ परमाणु व आकाश के विस्तार की तुलना ठीक-ठीक नहीं बैठती है। तो भी तुच्छता व बड़प्पन की सीमा दिखाने के लिए इधर परमाणु, उधर आकाश को लेकर अतिशय प्रगट किया है।

याचना करने वाला व दान देने वाला, पुरुष दोनों ही समान हैं। किसी की भी जात-पात या लक्षण आकार भिन्न नहीं है। तो भी दान देते समय दाता तो अति महान दीखने लगता है और याचना करने वाला अति तुच्छ दीख पड़ता है। इसका कारण शायद यह है कि उस समय याचक का गौरव या महत्व दाता की तरफ पलट कर पहुँच जाता है। यदि ऐसा न होता तो याचक का तुच्छ बनना व दाता का इतना गौरव बढ़ना असम्भव था। इसमें दूसरा कोई कारण ही नहीं दीखता है। दोनों समान जातीय मनुष्य होकर भी याचना मात्र से याचक का गौरव कम हो जाता है। जितनी इधर लघुता प्राप्त होती है, उतना ही उधर दाता का गौरव बढ़ता है।

इन दोनों की अवस्था का दृष्टान्त–

अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः।
इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः॥

तराजू के जिस पलड़े में कुछ चीज रख दी जाती है वह नीचा हो जाता है और जो खाली रहता है उस ऊँचा हो जाता है। इससे यह मतलब समझना चाहिए कि याचना पूर्वक लेने वाले की भी यही दशा होती है। जो याचना करके लेता है वह अधोगति-नरक का पाप संग्रह करके नीचे चला जाता है और जो भोग के विषयों से उदास रहता है, कभी किसी में कुछ याचना नहीं करता है वह पापों के बोझ न होने से हलका रहता है और इसीलिए वह ऊर्ध्व गमन कर स्वर्ग या मोक्ष जाता है।

यद्यपि याचना करना सभी के लिए बुरा है, पर साधुओं के लिए तो याचना करने की सर्वथा ही मनाई है। वे किसी से याचना नहीं करते। यदि उनकी आवश्यकतानुसार कोई अन्न औषधि तथा पुस्तकादि उन्हें देदे तो वे लेते हैं, नहीं तो नहीं। यदि किसी भक्त का उनकी तरफ महीनों भी लक्ष्य न जाय तो भी वे दु:खी नहीं होते, याचना करने को तैयार नहीं होते। उनकी धीरता बड़े से बड़ा कष्ट आ जाने पर भी समाप्त नहीं होती है। वे अपने को इतना अधिक स्वतन्त्र बना लेते हैं, तभी तो उनकी मुक्ति इस संसार से शीघ्र हो सकती है।

पांच रसों की गृद्धता को छोड़ने का उपदेश देते हैं–

रसमुं ज्ञानमुमल्लवु रसमं बगेवागलेनुमरियव वैदुं।
रसम सेविसि मुळिवै रसमं सेविसियदके रागमं माळ्पै॥80॥

अर्थ–हे जीव् रस ज्ञान रूप नहीं है, तू उसके स्वाद को जानते समय भिन्न-भिन्न पांचों रसों का स्वाद लेता है अर्थात् तेल, नमक, मिर्च, घी और दूध ऐसे पांच रस हैं। इसका स्वाद लेते हुए तू अपने को सुखी मानता है। जब ये पांच रस अपने अनुकूल नहीं मिलते तब उनके प्रति द्वेष करता है। जब अपने अनुकूल होते हैं तब इन पर प्रेम करता है। परन्तु हे अज्ञानी जीव! जड़ वस्तु रस के स्वाद को लेकर यह अच्छा नहीं है ऐसा मन में विचार करके उससे द्वेष करता है और पुन: उस पर प्रेम करता है अर्थात् राग करता है। पुन: उसमें गृद्धता कर, उसी का लोलुपी होकर, उसी में आसक्ति रखकर उसी के लालच से मर कर उस का स्वाद लेने के लिये उसी के अन्दर कीड़े का शरीर धारण करता है और बार-बार उसी में जन्म-मरण करता है। इसीलिए हे योगी! रस के स्वाद को छोड़ और अनादि काल से अपने अन्दर ही रहने वाली आत्मा के रस का स्वाद ले ऐसा आचार्य ने बतलाया है॥80॥

विवेचन–ग्रन्थकार ने इस श्लोक में रस की आसक्ति को छोड़ने का उपदेश दिया है कि हे योगी! षट्रस में फंसकर तू उसमें रागद्वेष करता है क्योंकि यह जड़ वस्तु है ऐसा तुझे ज्ञान नहीं है। इसी कारण खोटे परिणामों से

निंद्य पर्याय में भ्रमण करने की सामग्री बना लेता है। इस आहार के रस की गृद्धता के कारण तू अनेक योनियों में भ्रमण कर रहा है। इस आहार की आसक्ति से उसी को ग्रहण करने की आशा रख कर उसी के अन्दर उत्पन्न हुआ है। इन पांचों इन्द्रिय विषयों को उत्तेजित करने वाले इस शरीर को नीरस भोजन लेकर संयम साधन कर। परन्तु तू दीक्षा ग्रहण करने के बाद पहली भावना को भूलकर पर घर की भिक्षा के भोजन में आसक्त होकर अनेक प्रकार के रस का स्वादी बनता है। जब तुझे अच्छा मिले, तब उसको प्रेम करता है, जब तेरे मन के अनुकूल नहीं मिलता है तू उस पर द्वेष करता है। इस तरह आहार में रागद्वेष करके तू अशुभ गति का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहा है। इसलिए हे योगी! आहार की या रस की आसक्ति का त्याग कर। आहार जड़ वस्तु है और तेरी आत्मा में अनन्त ज्ञानमय आनन्दामृत के रस का भण्डार भरा पड़ा है। तू आप अपने आत्मा रस का स्वादी होकर बाहर की विषय वासना को उत्पन्न करने वाले रस को छोड़। आचार्य ने कहा है कि—

काऊण णग्गरुवं बीभस्सं दड्ढ-मडय-सारिच्छं।
अहिलससि किंण लज्जसि भिक्खाए भोयणं मिट्ठं॥

पराये घर भिक्षा को जाते सम मिष्ट आहार की इच्छा करता है, क्या तुझे लाज नहीं आती? इसलिए साधु को आहार का राग छोड़ अल्प और नीरस आहार उत्तम कुलीन श्रावक के घर लेना योग्य है। मुनि को राग भाव रहित आहार लेना चाहिए। स्वादिष्ट सुन्दर आहार का राग करना योग्य नहीं है और श्रावक को भी यही उचित है, कि भक्ति भाव से मुनि को निर्दोष आहार देवे, जिसमें दोष न लगे। यदि आवश्यकता हो तो आहार के समय ही निर्दोष औषधि दे, शास्त्र दान करे, मुनियों का भय दूर करे, उपसर्ग निवारण करे। यही गृहस्थ का योग है। जिस गृहस्थ ने यती को आहार दिया, उसने तपश्चरण दिया, क्योंकि संयम का साधन शरीर है, और शरीर की स्थिति अन्न जल से है। आहार के ग्रहण करने से तपस्या की बढ़ोतरी होती है। इसलिए आहार का दान तप का दान है। यह तप संयम शुद्धात्मा की भावना रूप है, और ये अन्तर

बाह्य बारह प्रकार का तप शुद्धात्मा की अनुभूति का साधक है। तप संयम का साधन दिगम्बर मुनि का शरीर है। इसलिए आहार के देने वाले ने यती को देह की रक्षा के साथ ही शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष दिया क्योंकि मोक्ष का साधन मुनिव्रत है, और मुनिव्रत का साधन शरीर है, तथा शरीर का साधन आहार है। इस प्रकार अनेक गुणों को उत्पन्न करने वाला आहारादि चार प्रकार का दान उसको श्रावक भक्ति से देता है, तो भी निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के आराधक योगीश्वर महा तपोधन आहार को ग्रहण करते हुए भी राग नहीं करते। रागद्वेष परिणाम निजभाव के शत्रु हैं, यह सारांश हुआ।

भोजन की लालसा का त्याग करने के बार में आगे कहा है कि—

जइ इच्छसि भो साहू बारह विह तवहलं महा विउलं।
तो मण-वयणे-काए भोयण-गिद्धी विवज्जेसु॥

हे योगी! जो तू बारह प्रकार के तप के फल स्वरूप स्वर्ग मोक्ष चाहता है, तो वीतराग निजानन्द एक सुख रस का आस्वाद और अनुभव से तृप्त हो। मन वचन और काय से भोजन की लोलुपता का त्याग कर दे।

जो योगी स्वादिष्ट आहार से हर्षित होते हैं, और नीरस आहार में क्रोधादि कषाय करते हैं, वे मुनि भोजन के विषय में गृद्धपक्षी के समान हैं, वे परमतत्व को नहीं समझते हैं।

जो कोई वीतराग के मार्ग से विमुख हुए योगी स्वादिष्ट आहार से खुश होते हैं, जो कभी किसी के घर छह रसयुक्त आहार पावें तो मन में हर्ष करते हैं, आहार के देने वाले से प्रसन्न होते हैं, यदि किसी के घर से रस रहित भोजन मिले तो कषाय करते हैं, उस गृहस्थ को बुरा समझते हैं, वे तपोधन नहीं हैं, भोजन के लोलुपी हैं। वे गृद्धपक्षी के समान हैं। ऐसे लोलुपी यती देह में अनुरागी होते हैं, वे परमात्म तत्व को नहीं जानते। गृहस्थी के तो दानादिक ही बड़े धर्म हैं। जो सम्यक्त्व सहित दानादि करे, तो परम्परा से मोक्ष पावे क्योंकि श्रावक का दानादिक ही परम धर्म है। जो ऐसे नहीं हैं, वे गृहस्थ हमेशा विषय कषाय के आधीन रहते हैं। इससे इनके आर्त रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं।

इनके निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो ठिकाना ही नहीं है। वस्तुतः गृहस्थों के शुभोपयोग की ही मुख्यता है और जब शुद्धोपयोगी मुनि इनके घर आहार लेवें, तो इसके समान अन्य क्या है। श्रावक का तो यही बड़ा धर्म है कि यति, अर्जिका, श्रावक, श्राविका इन सबको विनयपूर्वक आहार दे। और यति का यही धर्म है कि अन्न जलादि में राग न करे, और मान अपमान में समता भाव रक्खे। गृहस्थ के घर जो निर्दोष आहारादिक जैसा मिले वैसा लेवे, चाहे चावल मिले, चाहे अन्य कुछ मिले। जो मिले उसमें हर्ष विषाद न करे। दूध, दही, घी, मिष्टान्न इनकी इच्छा न करे। यही जिनमार्ग में यति की रीति है।

रुवि पयंता सद्दि मय गय फासहि णासंति।
अलिउल गंधइं मच्छ रसि किम अणुराउ करंति॥

पंचेन्द्रिय के विषयों की इच्छा आदि जो खोटे ध्यान हैं वे ही हुए विकल्प उनसे रहित, विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप जो निर्विकल्प समाधि, उससे उत्पन्न वीतराग परम आल्हादरूप सुख अमृत, उसके रस के स्वाद का पूर्ण कलश की तरह भरे हुए जो केवल ज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्य समयसार, उसकी उत्पन्न करने वाला जो शुद्धोपयोग रूप कारण समयसार, उसकी भावना से रहित संसारी जीव विषयों के अनुरागी पाँच इन्द्रियों के लोलुपी भव-भव में नाश पाते हैं। ऐसा जानकर इन विषयों में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पांच इन्द्रियों के विषयों में मोहित हैं, वे वीतराग चिदानन्दस्वभाव परमात्मतत्व को न सेवते हुए, और न भावते हुए, अज्ञानी जीव मिथ्या मार्ग को वांछते, कुमार्ग की रुचि रखते हुए नरकादि गति में धानी में पिलना, करोत से विदरना, और शूली पर चढ़ना इत्यादि अनेक दुःखों को भोगते हैं। अज्ञानी जीव वीतराग निर्विकल्प परम समाधि से पराङ्मुख हैं। जिनके चित चंचल हैं, वे कभी निश्चल चित्त कर निजरूप को नहीं ध्याते हैं। और जो पुरुष मोह से रहित हैं, वीतरागनिर्विकल्प समाधि में लीन हैं, वे लीला मात्र में ही संसार को तैर जाते हैं।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों का त्याग करने का उपदेश देते हुए कहा है

कि—

स्पर्श ज्ञानमुमळ्ळवु स्पर्श बगेवागळेनुमरियव वेंटु।
स्पर्श मने नोडिं मेच्चुवे स्पर्शद तीटक्के पेसि मुळिसं माळ्पै॥81॥

अर्थ—हे जीव! स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञान स्वरूप नहीं है। स्पर्शन इन्द्रियों का स्वाद लेते समय वे आठ प्रकार के मृदु, कर्कश, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्षादि जो स्पर्श हैं तुझको नहीं जानते हैं। परन्तु तू ऐसे जड़ स्पर्श को स्पर्श कर अत्यन्त मोहित होता है और आनन्दित होता है। तू स्पर्शन इन्द्रियों का भोग कर या स्पर्श कर पुनः उन पर राग और द्वेष करता है। और उनसे प्रेम करके पुनः संसार के भ्रमण का कारण बन जाता है। यह कितने अज्ञान की बात है।

जितना जितना इन्द्रिय विषय सुख में लगाव होता जाता है उतना-उतना ही अधिक-अधिक दुःख होता है, ऐसे कहते हैं।

एल्लेल्लि मनं पत्तुगु मल्लिल्ल ये दुःख हेतु वें बुदनरि यल्।
बल्लडे परतत्वदोळं सल्लदे तल्लि योगि नेलसि ये निलुवं॥82॥

अर्थ—मन जहाँ-जहाँ आसक्त होता है तहाँ-तहाँ दुःख होता जाता है अर्थात् वहाँ दुःख ही दुःख होता है। ऐसा समझने के बाद अगर वह योगी उन इंद्रियों के प्रति आसक्त न होकर अपने अन्दर ही आसक्त हो तो वही योगी श्रेष्ठ होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है॥82॥

विवेचन—ग्रंथकार ने यह बताया है कि मन जहाँ-जहाँ आसक्त होता है वहाँ दुःख ही दुःख होता है। ऐसा समझने के बाद योगी इन्द्रियों में आसक्त न होकर अगर अपने अन्दर ही आसक्त हो तो संसार से शीघ्र ही मुक्त हो सकता है। वही योगी श्रेष्ठ है। जब तक इस जीव को स्व पर का भेद प्रतीत नहीं होता तब तक अज्ञानी कहलाता है। जब तक अज्ञान अवस्था रहती है तब तक आत्मा के साथ लगे हुए कर्मरूपी मैल से हमेशा आकुलता पाता है। यह आकुलता इन्द्रिय जनित भोग विषयों के कारण है। जब स्व पर का ज्ञाता हो

जाता है तब शीघ्र ही उसको छोड़कर अपने स्वरूप में आता है।

कहा भी है कि विषयसुख की अपेक्षा मोक्ष का मिलना सुलभ है।

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यः,
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थपरिग्रहार्थम्।
तच्चेष्टितं यदि सकृत् परलोकबुद्ध्या,
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम्॥

अर्थ—अरे, जैसा कि तू असि मसि कृषि आदि अनेक तरह के उद्योग करता हुआ निरंतर इस विषयसुख की प्राप्ति के लिए क्लेश उठाता है, वैसा क्लेश यदि एक बार भी परलोक सिद्धि के लिए उठाये तो फिर तुझे जन्म मरणादिक दुःख कभी न भोगने पड़ें। अर्थात् अविनाशी सुख की प्राप्ति हो जाय। परन्तु तू एक तो विषयों में आसक्त हो रहा है और दूसरे तुझे विवेक नहीं रहा। इसलिये तू ऐसा समझता है कि घर में रहकर उद्योग से धन कमाकर विषय भोग सहज प्राप्त हो सकता है और उससे सुख भी होता है पर खूब पक्का समझले कि, इससे अविनाशी सच्चा मोक्ष सुख की प्राप्ति होना नितान्त असंभव हैं इस विषयसुख को तू सहज और सच्चा सुख समझता है। इसी से तेरी इच्छा परिग्रह जाल से हटती नहीं है। परन्तु यह तू निश्चय समझ कि, विषय संग्रह के लिए जितना क्लेश तू निरंतर सहता है और फिर भी वे विषय इच्छित रूप में प्राप्त नही हो पाते, उतना ही कष्ट यदि मोक्षसुखार्थ कभी एक बार भी किया जाय तो अवश्य अविनश्वर सुख प्राप्त हो सकता है। यदि अब भी वैसा करे तो भी कुछ नहीं बिगड़ा है तू डर मत, विषयों के उपार्जन से मोक्ष सुख का उपार्जन करना सहज है और वही असली सुख है।

बाह्य पदार्थों से राग द्वेष हटाने का उपदेश—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्मयको,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः?
अन्तःशान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्।

ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान्॥

अर्थ—अरे भव्य जीव! तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता इसलिये स्त्री, पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर रत्न सुवर्णादिक को हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है? तेरी ऐसी कल्पना तभी तक होती है जब तक कि तू असली आत्मीय शांति को प्राप्त नहीं होता। यह तेरी सभी कल्पनाएं झूठी हैं, क्योंकि, अन्य पदार्थों में तुझे दु:ख देने की शक्ति नहीं है, जो कुछ सुख दु:ख होते तुझे दिखाई देते हैं वे तेरी ही संकल्पवासना के फल हैं। देख, इधर तो तू यों ही फँसा रहेगा किंतु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा देगा। इसलिये उससे बचने का उपाय देख और वह यह है कि जब तक, चाहे जब आजाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्नि में पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तब तक तू अपने अंत:करण को पूर्ण शांत करले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दु:खदायी न हो, क्योंकि अंतरंग में शांति (संतोष) उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बंध होगा अथवा परम शांति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिये काल का भय मिट जाएगा।

भोगी को विषयों ने ही पागल बना दिया है—

तार्णबुटे पेरतोंदपूर्वरस में केय्सार्गुमे मत्तमा।
उणिसा तंबुलमा विदग्ध गणिकासंयोगमावस्त्र भू-
षणमाल्यादिगकेंदु पंबलिसी निच्चं निच्चमी पिष्टवैपे।
षणर्माचर्वितचर्वणं सुखमिदें निन्नं मरूक्माडितो॥83॥

अर्थ—हे जीव! इंद्रिय विषय भोग को कितना भी भोगा जाय उससे कभी भी तेरी तृप्ति नहीं होती है अर्थात् उससे कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती है और उससे कभी भी कोई सुख की नयी चीज प्राप्त हुई है? पुन: पुन: वही भोजन, वही तांबूल, वही चतुर वेश वाली के साथ संयोग का विषय और वही

रत्नों के हार सुगंध पुष्पमालायें, वही अलंकार आदि, निरंतर उन्हीं का उपभोग और भोगोपभोग के लिये हायहाय करके संग्रह करने में अनेक प्रकार से अस्त व्यस्त रहता है अर्थात् निरंतर इस पिष्ट पेषण और चर्वित चर्वण के समान सुख ही क्या सुख कहलाता है? अरे इस विषय भोग के हेतु किसने तुझे पागल बना दिया है॥83॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में कहा है कि यह अज्ञानी जीव अनादि काल से बार-बार पंचेन्द्रिय विषयभोग को भोगता हुआ आ रहा है जैसे कि बेसन अनेक मसालों से मिलकर व्यंजन बन जाता है। बेसन के लड्डू के रूप में, या पकौड़ी के रूप में या और व्यजंन रूप में परिवर्तित होकर स्वादिष्ट बनता है। उस समय यह जीव कहता है कि आज मैंने बहुत बढ़िया चीज खायी है। जब वह व्यंजन रहित या मसाले रहित केवल पानी में रौंद कर या रोटी बनकर सम्मुख आता है तब वह फीका मालूम होता है। जो मसालेदार बना हुआ था वही जब मिष्टान्न के रूप में परिवर्तित होता है तब वह उस पर राग करता है। इस तरह यह जीव इस परवस्तु का लालच और उसी की लालसा रखकर बार-बार जन्म मरण कर उसी को ग्रहण करता है और जो जब दूसरी बार खाता है या दूसरी बार पंचेद्रिय विषय भोगों का उपभोग करता है उस समय मन में यह विचार करता है कि मैंने ये जिन्दगी में कभी नहीं भोगा और ऐसी सम्पति मुझे कभी प्राप्त नहीं हुई। इस प्रकार विषय भोग में आसक्त होकर यह आत्मा मलिन बनकर निंद्य गति को प्राप्त होता है। जब तक यह जीव इन्द्रिय विषय में इस प्रकार फंसा रहेगा तब तक इस जीव को आत्मा के स्वरूप की पहिचान नहीं होगी।

आचार्य ने बताया है कि पूर्व जन्म में निदान सहित व्रत दान, तप आदि शुभ क्रिया करके जो पुण्य-बंध किया उस पुण्य बंध को ही तूने अपना सुख माना है। परन्तु यह पुण्य इस आत्मा को सुख देने वाला नहीं है। तू बार-बार उसी पुण्य का संग्रह करके इस संसार में जन्म और मरण करता आया है इसलिये आचार्य कहते हैं कि सम्यक्त्व पूर्ण तपश्चर्या करके पंचेन्द्रिय विषयों को छोड़ देना ही तेरे लिये उचित है।

रुचिपूर्वक आत्म ध्यान में तल्लीन होकर पाप और पुण्य दोनों को हटाकर अपने स्वरूप की ही शरण ले। परमात्म प्रकाश में योगीन्द्राचार्य ने भी कहा है कि हे जीव! सम्यक्त्व सहित तप कर्म निर्जरा के लिये कारण है। सम्यक्त्व रहित चक्रवर्ती और देव पद ये दोनों पुनः संसार के लिये कारण हैं इसलिये सम्यक्त्व की अपेक्षा चक्रवर्ती और देव पद भी अच्छा नहीं है। ऐसा कहा है।

जो सम्यग्दर्शन के सन्मुख हैं, वे अनन्त सुख को पाते हैं, और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं, वे पुण्य भी करते हैं, तो पुण्य के फल से अल्प सुख पाके संसार में अनन्त दुःख भोगते हैं। निज शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप निश्चयसम्यक्त्व के सन्मुख हुए जो सत्पुरुष हैं, वे इसी भव में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन की तरह अविनाशी सुख को पाते हैं, और कितने ही नकुल सपसहदेव की तरह अहमिंद्र पद के सुख पाते हैं तथा जो सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य भी करते हैं, तो भी मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, इसलिये हे जीव! तू इस प्रकार आत्मानुभव के बिना जो बाह्य पदार्थ में बार-बार लालसा रखकर जन्म मरण रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है, वह ठीक नहीं है। अब तो चेत। तुझे पुण्य और पाप इन दोनों से भिन्न शुद्धात्म स्वरूप का मनन करना ही योग्य है और उसी से तेरी तृप्ति होगी। पर द्रव्य से कभी तृप्ति नहीं होगी। इसलिए अब तो अपने अज्ञान को छोड़कर सम्यक्

ज्ञानी बन और शुद्धात्म के प्रति रुचि रखकर उसी में रत रह।

आचार्य आगे के श्लोक में यह बतलाते हैं कि भोगोपभोग के होने से इस आत्मा के साथ अनुराग उत्पन्न होता है।

भोगंगक्मनदोक्सले रागमनोदविसुगुमोप्पडनुभविकेमनो॥
रागमनोविसदवुवृह्यद्योगमनोदविसे रसज्ञननुभविसुगुमें॥84॥

अर्थ—भोगोपभोग विषय मन में अच्छी तरह अनुराग उत्पन्न करते हैं

तो भी उनको अनुभव कर ज्ञानी के मन में प्रेम उत्पन्न नहीं होता। आत्मरस का स्वादी व्यक्ति क्या विषयों में रुचि करेगा? कदापि नहीं। वह विषय सुख अगर मन में प्रवेश करे तो वह ज्ञान उस आत्म सुख का अनुभव कभी भी नहीं कर सकता है ऐसा समझना चहिये ॥84॥

विवेचन—आचार्य बतला रहे हैं कि अभेदरत्नत्रय की भावना से रहित मनुष्य का जन्म निष्फल है। यह जीव अनादिकाल से भोगोपभोग विषय में आसक्त होकर उसको ही अनुभव करके इस संसार में चक्र के समान परिभ्रमण कर रहा है। जब तक यह विषय वासना इस अज्ञानी जीव के हृदय में बनी रहेगी तब तक इस जीव को शुद्धात्मा की प्रतीति नहीं हो सकती है। आचार्य ने इस अज्ञानी जीव को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे जीव! अनादि काल से इस जीव ने कई बार मनुष्य भव धारण किया और छोड़ा परन्तु उससे अपना जो हित करना था वह नहीं किया। जो तूने अनादिकाल से विषय भोगों को भोगा था, उसी की लालसा रखकर तू एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक पर्याय धारण करके इस विषय भोग को भोगता रहा और उसी में आसक्त होकर रहा है।

हे जीव! तू विषयों में लीन होकर अनन्त काल तक भटका और अभी भी विषयासक्त बना हुआ है। अब विषयासक्त होकर कितने काल तक भटकेगा अब तो मोक्ष का साधन कर। कहते हैं कि—

विसयासत्तउ जीव तुहुं कित्तिउ काल गमीसि।
सिव-संगमु करि णिचलउ अवसइं सुक्खु लहीसि॥

हे अज्ञानी जीव! तू विषयों में आसक्त होकर कितना काल बितायेगा? अब तो शुद्धात्मा का अनुभव कर, जिससे कि अवश्य मोक्ष को प्राप्त हो। हे अज्ञानी,! तू शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग परम आनन्दरूप अविनाशी सुख के अनुभव से रहित हुआ विषयों में लीन होकर कितने काल तक भटकेगा। पहले तो अनन्तकाल तक भ्रमण किया, अब भी भ्रमण से नहीं थका, सो बहिर्मुख परिणाम करके कब तक भटकेगा। अब तो केवल ज्ञान

दर्शन रूप अपने शुद्धात्मा का अनुभव कर, निज भावों का संबंध कर। घोर उपसर्ग और बाईस परीषह की उत्पत्ति में भी सुमेरु के समान निश्चय होकर आत्म ध्यान को धारण कर, उसके प्रभाव से नि:संशय मोक्ष पावेगा। जो मोक्ष अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तगुणों का ठिकाना है, उसे विषयों के त्याग से अवश्य पावेगा।

तू निजस्वरूप का संसर्ग मत छोड़, निजस्वरूप ही उपादेय है, ऐसा ही बार-बार उपदेश करते हैं—हे तपोधन! आत्म कल्याण को छोड़कर तू कहीं भी मत जा। जो अज्ञानी जीव निजभाव में लीन नहीं होते हैं, वे सभी दु:खों को सहते है, ऐसा तू देख। यह आत्म कल्याण प्रत्यक्ष में संसार सागर को तरने का उपाय हैं। उसको छोड़कर हे तपोधन! तू शुद्धात्मा की भावना कर। शत्रु जो मिथ्यात्व रागादि है, उनमें कभी गमन मत कर, केवल आत्मस्वरूप में मगन रह। जो कोई अज्ञानी विषय कषाय के वश होकर शिवसंगम में लीन नहीं रहते, उनको व्याकुलता रूपी दु:ख भव वन में सताता है। संसारी जीव सभी व्याकुल हैं, सर्वत्र दु:खी है, कोई सुखी नहीं है, एक शिवपद ही परम आनन्द का धाम है। जो अपने स्वभाव में निश्चयनय कर ठहरने वाला केवल ज्ञानादि अनन्तगुण सहित परमात्मा है उसी का नाम शिव है, ऐसा सर्वत्र जानना अथवा निर्वाण का नाम शिव है, अन्य कोई शिव नाम का पदार्थ नहीं है, जैसा कि नैयायिक वैशेषिकोंने जगत् का कर्ता हर्ता कोई अन्य शिव माना है, ऐसा तू मत मान। तू अपने स्वरूप को अथवा केवल ज्ञानियों को अथवा मोक्षपद को शिव समझ। यही श्री वीतरागदेव की आज्ञा है।

काल, जीव और संसार ये तीनों अनादि हैं उसमें अनादिकाल से भटकते हुए इस जीव ने मिथ्यात्व-रागादिक के वश होकर अपना शुद्धात्मस्वरूप न देखा, न जाना। यह संसारी जीव अनादिकाल से आत्म-ज्ञान की भावना से रहित रहा है। इस जीव ने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये हैं, परन्तु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्री जिनराजस्वामी न मिले। यह जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि रहा है, और क्षुद्र देवों का उपासक है। श्री जिनराज भगवान की भक्ति इसके कभी नहीं हुई, अन्य देवों का उपासक हुआ पर सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। यहाँ कोई प्रश्न करे, कि अनादि का मिथ्यादृष्टि होने से सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक है, परन्तु जिनराजस्वामी न

पाये, ऐसा नहीं हो सकता? क्योंकि "भवि भवि जिण पुज्जिउ बंदिउ" ऐसा शास्त्र का वचन है, अर्थात् भव-भव में इस जीव ने जिनवर पूजे और गुरू बंदे। परन्तु तुम कहते हो, कि इस जीव ने भव-वन में भ्रमण करते हुए जिनराजस्वामी नहीं पाये? उसका समाधान भाव भक्ति इसकी कभी न हुई, भाव भक्ति तो सम्यग्दृष्टि को ही होती है और लौकिक-भक्ति संसार के प्रयोजन के लिये हुई, वह गिनती में नहीं। ऊपर की सब बातें निःसार हैं, भाव ही करण होते हैं, सो भाव भक्ति मिथ्यादृष्टि को नहीं होती है। ज्ञानी जीव ही जिनराज के दास हैं सो सम्यक्त्व बिना भाव-भक्ति के अभाव से जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें संदेह नहीं है। जो जिनवरस्वामी को पाते, तो उन्हीं के समान होते। लोक दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस काम की यह जानना। अब श्री जिनदेव का और सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनो। जो अनंत ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित हैं, वे जिनस्वामी हैं, वे ही परम आराधने योग्य हैं, तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चय सम्यक्त्व अथवा वीतराग सर्वज्ञ देव के उपदेश हुए षट् द्रव्य, सात तत्व, नौ पदार्थ, और पाँच अस्तिकाय उनका श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व यह निश्चय व्यवहार दो प्रकार का सम्यक्त्व है निश्चय का नाम वीतराग है, व्यवहार का नाम सराग है। "शिवसंगमु सम्मत्तु" इसका अर्थ यह भी है, कि शिव जो जिनेन्द्रदेव हैं उनका संगम अर्थात् भाव-सेवन इस जीव को नहीं हुआ, और सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व होता तो परमात्मा का भी परिचय होता। तू परिवार गृहादि पर वस्तुओं का चिंतन करता हुआ कर्म कंलक रहित केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित मोक्ष को नहीं पावेगा, और मोक्ष का मार्ग जो निश्चय व्यवहार रत्नत्रय है उसको भी नहीं पावेगा। इन गृहादि के चिंतवन से भव मन में भ्रमण करेगा इसलिये इनका चिंतवन तो मत कर, लेकिन बारह प्रकार के तप का चिंतवन कर। इसी से मोक्ष पायेगा। वह मोक्ष तीर्थङ्कर परमदेवाधिदेव महापुरुषों के आश्रित है, इसलिये सबसे उत्कृष्ट है। मोक्ष के समान अन्य पदार्थ नहीं। यहाँ परद्रव्य की इच्छा को त्याग वीतराग, परम आनन्दरूप जो परमात्म स्वरूप है उसके ध्यान में ठहरकर, घर परिवारादिक का ममत्व छोड़, एक केवल

निजस्वरूप की भावना करना यही तात्पर्य है। आत्मा भावना के सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है।

आचार्य आगे श्लोक में बतलाते हैं कि अनन्त भव को प्राप्त कर करके पंचेन्द्रिय विषय रूपी शत्रु के आधीन होकर अनन्त काल तक विषय सुख में मग्न होकर कभी पुण्य और कभी पाप इसी चक्कर में भ्रमण करता रहा। अब तू चेत और अपने स्वरूप की तरफ झुक ऐसी सूचना देते हैं। कहा भी है कि—

पत्तिर्दनतं भवमुम नित्तैदुं विषयवैरिगलिगेय्दिदैयै।
मत्तं परत्रयादिनि मित्तं निनगोंदु भवमनीयलुमारी॥85॥

अर्थ—हे जीव! तूने अनन्त भव प्राप्त कर पंचेन्द्रिय विषय रूपी शत्रु के लिए, ही अपना जीवन बिता दिया और स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने के लिए एक भव भी दान नहीं दे सकता? हे मनुष्य! इस भव को स्वर्ग और मोक्ष के लिए दान कर, जिससे तेरी जिन्दगी सुधर जाय॥85॥

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि इस जीव ने अनादि काल से अनेक भव प्राप्त करके इस इन्द्रिय विषय को भोगते हुए अभी तृप्ति नहीं प्राप्त की क्योंकि बाह्यात्मा बनकर उसी को अपनी आत्मा समझता है। रात दिन उसी की चिन्ता में, उसी के स्वरूप में चिंतित होकर पुनः उसी पर्याय में परिरमण करता रहता है। जब तक पर द्रव्य में ममता रहेगी तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। ग्रन्थकार यह कहते हैं कि हे मन्दभागी, अज्ञानी! अनादि काल से इतने भव धारण किये और उन्हें इन्द्रिय विषय में खर्च कर दिया। एक भव भी पर भव के लिए खर्च करना नहीं चाहता है। इसलिए सोच, ऐसे उत्कृष्ट मनुष्य भव को पाकर आत्म कल्याण करने के लिए दान के रूप में इसका त्याग करेगा तब तू इस पर्याय में आत्म सुख की प्राप्ति करने का साधन कर लेगा। इसलिए आचार्य कहते हैं कि अब तू चेत, जो बहिरंग स्त्री पुत्र आदि है ये अपने शरीर सम्बन्धी हैं अर्थात् पुद्गल सम्बन्धी हैं। पूर्व जन्म में जो पाप और पुण्य किया है उसी के अनुसार इन्होंने भी आकर तुझसे शरीर का सम्बन्ध किया है। जब तेरा पुण्य खत्म हो जायेगा तब

उसमें से एक भी तेरे साथ नहीं होगा। स्त्री, पुत्र, आदि तभी तक तेरा साथ देंगे जब तक तेरे शरीर में शक्ति है, पैसा कमाने की शक्ति है। जब अशुभ कर्म का उदय होगा, तेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखेंगे, और उस समय अपमान करेंगे। यह भी पाप और पुण्य का फल है। जब आपत्ति आती है कोई भी साथ नहीं देता। ऐसा समझ कर चेत और अपने सच्चे आत्म स्वरूप की तरफ मुख कर और समय जितना अवशेष है आत्म साधन में मन लगा करके उसका साधन कर। क्योंकि इस जीव के द्वारा कर्मो का फल सुख और दु:ख जो पांच इन्द्रियों का विषय रूप है उसे निश्चय नय से स्पर्शन आदि इन्द्रियों के निमित्त से भोगा जाता है। ये द्रव्यकर्म मूर्तिक हैं और मूर्तिक के निमित्त से आत्मा में रागद्वेष होते हैं इनसे अनेक प्रकार के दु:ख का अनुभव कर रहा है। कहा भी है कि–

जम्हा कम्मस्सफलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि॥

जो जीव विषयों से रहित परमात्मा की भावना से पैदा होने वाले सुखमय के स्वाद से गिरा हुआ है, वह जीव उदय में आकर प्राप्त हुए कर्मो का फल भोगता है। वह कर्मफल मूर्तिक पंच इंद्रियों के विषय रूप तथा हर्ष विषाद रूप तथा सुखदु:खमय है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से अमूर्तिक हैं तथापि अशुद्ध निश्चय नय से परमार्थ रूप व अमूर्तिक परम आल्हादमय लक्षणधारी निश्चय सुख के विपरीत होने के कारण यह विषयों का सुख-दु:ख हर्ष विषाद रूप मूर्तिक है क्योंकि निश्चय पूर्वक स्पर्शनादि पांच इंद्रियों से रहित अमूर्तिक शुद्ध आत्म तत्व से विपरीत जो स्पर्शनादि मूर्तिक इन्द्रियाँ हैं उनके द्वारा ही भोगा जाता है। अतएव कर्म जिनका ये सुख दु:ख कार्य हैं वे भी मूर्तिक हैं क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य होता है। मूर्तिक कार्यरूप अनुमान से उनका कारण भी मूर्तिक जाना जाता है। पांचों इंद्रियों के स्पर्शादि विषय मूर्तिक हैं तथा वे मूर्तिक इंद्रियों से भोगे जाते हैं उनसे सुख दु:ख होता है वह भी स्वयं मूर्तिक है। इस तरह कर्म को मूर्तिक सिद्ध किया गया, यह सूत्र का अर्थ है। इसलिये मूर्तिक पदार्थ को त्याग करके अमूर्तिक अपने सिद्धात्मा के प्रति झुक जाने का उपदेश दिया है। इसलिये यह जीव इसके विपरीत बाह्य इंद्रिय विषय से इस संसार में भ्रमण कर रहा है।

द्रव्य काल क्षेत्र भव और भाव ऐसे पाँच प्रकार के संसार हैं। इस पाँच प्रकार के संसार में तू अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। विषयभोग में अज्ञानी जीव के संसार में किस प्रकार सम्बन्ध जुड़ते हैं यह 18 नाते की प्रसिद्ध कथा से सरलता से समझ में आ सकता है। इसके प्रमुख पात्र धनदेव और पात्री बसन्ततिलका वेश्या तथा उसकी पुत्री कमला के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर उक्त बातें कहीं गई हैं। कथा इस प्रकार है...मालव देश की उज्जैनी नगरी में राजा विश्वसेन, सेठ सुदत्त और बसन्ततिलका वेश्या रहती थी। सेठ सुदत्त सोलह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। उसने बसन्ततिलका वेश्या को अपने घर में रख लिया। वह गर्भवती हुई और खाज, खांसी, श्वास आदि रोगों से उसे घेर लिया। तब सेठ ने उसे अपने घर से निकाल दिया। अपने घर में जाकर बसन्ततिलका ने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। खिन्न होकर उसने रत्न कम्बल में लपेट कर कमला नाम की पुत्री को तो दक्षिण ओर की गली में डाल दिया। उसे प्रयाग का व्यापारी सुकेत ले गया और उसने अपनी सुपुत्रा नाम की पत्नी को सौंप दिया तथा धनदेव पुत्र को उसी तरह रत्न कम्बल में लपेट कर उत्तर ओर की गली में रख दिया। उसे अयोध्यावासी सुभद्र ले गया और उसने अपनी सुव्रता नाम की पत्नी को सौंप दिया। पूर्व जन्म में उपार्जित पाप कर्म के उदय से धनदेव और कमला का आपस में विवाह हो गया। एक बार धनदेव व्यापार के लिये उज्जैनी गया, वहाँ बसन्त तिलका वेश्या से उसका सम्बन्ध हो गया। दोनों के सम्बन्ध से वरुण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार कमला ने श्रीमुनिदत्त से अपने पूर्वभव पूछे। श्रीमुनिदत्त ने सब सम्बन्ध बतलाये, जो इस प्रकार हैं। उज्जैनी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम कश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने जिनमती आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा इस पर दोनों भाईयों ने उपहास किया कि जवान की स्त्री बूढ़ी और बूढ़े की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा

उलट फेर किया है कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जैन में ही बसन्तसोन की पुत्री बसन्ततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नाम के पुत्र और पुत्री हुई। ब्राह्मण की पत्नी व्यभिचाराणि काश्यपी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसन्ततिलका के घर वरुण नाम का पुत्र हुआ इस कथा को सुनकर कमला को जातिस्मरण हो आया। और उसने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जैन जाकर वसन्तातिलका के घर घुसकर पालने में पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी–

1. मेरे पति के पुत्र होने से तुम मेरे पुत्र हो।
2. मेरे भाई धनदेव के पुत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो।
3. तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अत: तुम मेरे भाई हो।
4. धनदेव के छोटे भाई होने से तुम मेरे देवर हो।
5. धनदेव मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसलिये धनदेव मेरा पिता है। उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो।
6. मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूँ। अत: धनदेव मेरा पुत्र है तुम उसके भी पुत्र हो, अत: तुम मेरे पौत्र हो।

ये छ: नाते बच्चे के साथ हुए।

आगे–

1. वसन्ततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पिता है।
2. तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अत: वह मेरा दादा है।
3. तथा वह मेरा पति भी है।
4. उसकी और मेरी माता एक ही है, अत: धनदेव मेरा भाई है।
5. मैं वेश्या वसन्ततिलका की सौत हूँ और उस वेश्या का वह पुत्र है, अत: वह मेरा भी पुत्र है।
6. वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वेश्या का पति है, अत: वह मेरा श्वसुर है।

ये छ: नाते धनदेव के साथ हुए

आगे—

1. मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है।
2. तेरे मेरे दोनों के धनदेव पिता हैं और वेश्या उनकी माता है, अत: वह मेरी दादी है।
3. धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी भी माता है।
4. मेरे पति धनदेव की माता होने से वह मेरी सौत है।
5. धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया। उसकी पत्नी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रबधू है।
6. मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है, अत: मेरी सास है।

इन अठारह नातों को सुनकर वेश्या, धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञात हो जाने से जातिस्मरण हो आया। सभी ने जिन दीक्षा ले ली और मरकर स्वर्ग चले गये। इस प्रकार एक ही भव में 18 नाते तक हो जाते हैं, तो दूसरे भव की कथा की क्या है।

इस प्रकार संसार पांच प्रकार का है—द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार और भावसंसार। परिग्रह का नाम संसार है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से यह पांच प्रकार का होता है। पहले द्रव्य परिवर्तन या द्रव्य संसार का स्वरूप कहते हैं। यह जीव मिथ्यात्व और कषाय से युक्त कर्म पुद्गल को ग्रहण करता है और छोड़ता है। कर्म बन्ध के पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें मिथ्यात्व और कषाय प्रधान है क्योंकि मोहनीय कर्म के ये भेद हैं। सब कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान और बलवान कर्म है। इसके अभाव में शेष सब कर्म निर्बल हो जाते हैं, और संसार परिभ्रमण का चक्र ही रूक जाता है। मिथ्यात्व के पांच भेद है। कषाय के 25 भेद हैं। इन मिथ्यात्व और कषाय के आधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरणादि सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्ध को प्रति समय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कर्म वर्गणायें भरी हुई हैं। उनमें से अपने योग्य कर्म वर्गणा ही ग्रहण करता है। आयु कर्म सर्वदा नहीं बंधता है। यह जीव सात कर्मों के योग्य पुद्गलों को प्रति समय ग्रहण करता है और काल पूर्ण होने पर उन्हें भोग कर छोड़ देता है। इसी प्रकार 6 पर्याप्तियों के योग्य नो कर्म पुद्गलों को अनन्त बार

गृहीत को ग्रहण करके छोड़ दिया। इसके बाद जब वे ही पुद्गल वैसे ही रूप रस गन्ध स्पर्श आदि भाव को लेकर उसी जीव के वैसे ही कर्मरूप परिणत होते है उसे कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इसी तरह किसी विकसित समय में एक जीव ने तीन शरीरों की 6 पर्याप्तियों के योग्य नो कर्म पुद्गल ग्रहण किये और भोग कर छोड़ दिये। तब ये ही नो कर्म पुद्गल उसी रस आदि को लेकर उसी जीव के द्वारा पुनः ग्रहण किये जाते हैं उसे नो कर्म द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। कर्म द्रव्य परिवर्तन और नो कर्म द्रव्य परिवर्तन को द्रव्य संसार कहते हैं। इस प्रकार इस जीव ने पुद्गल परिवर्तन रूप सभी पुद्गलों को अनन्त बार ग्रहण किया और छोड़ा। जो पुद्गल पहले ग्रहण किया और छोड़ा उन्हें ग्रहीत कहते हैं। दोनों के मिलाप को मिश्र कहते हैं। समस्त लोकाकाश का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहाँ सभी जीव अनेक बार जिये और मरे न हों। यह लोक जगत श्रेणी रूप है सात राजू की जगत श्रेणी होती है। इसका घन 343 राजू होता है। इन 343 राजुओं में सभी जीव अनेक बार जन्म ले चुके और मर चुके हैं। ये ही क्षेत्र परिवर्तन है।

अब काल परिवर्तन के बारे में कहते हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी से लेकर यह जीव जन्म लेता है और मरता है। इसको काल परिवर्तन कहते हैं।

अब भव परिवर्तन के बारे में कहते हैं—संसारी जीव नरक आदि गतियों में सब स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्म लेता है। इसको भव परिवर्तन कहते हैं।

अब भाव परिवर्तन के बारे में कहते हैं कि सैनी जीव जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से तथा श्रेणी के असंख्य भाव-परिणाम योग्य परिणामो से संसार में परिभ्रमण करता है। जिस भव में जन्म मरण किया था उसी से पुनः जन्म लेता है। उसे भाव परिवर्तन कहते हैं।

इस प्रकार पांच संसार का संक्षेप से वर्णन किया है।

हे जीव! अगर तू पाँच प्रकार के इस संसार से मुक्त होना चाहता है तो सम्पूर्ण पर द्रव्य से मुख मोड़ कर निज शुद्धात्मा का मनन कर क्योंकि यह आत्मा उन सम्पूर्ण पर द्रव्यों से भिन्न है। जड़ रहित है, निर्विकार है, नित्य है, अखण्ड है, अविनाशी है, अनन्त सुख का भण्डार है, शुद्ध परमात्मा है, परम निरंजन है, वही मोक्ष सुख का धाम है। इसको छोड़ करके संसार में सारे जड़ पदार्थ क्षणिक हैं, और हमेशा इस आत्मा को परिवर्तनशील संसार में भ्रमण कराने वाले हैं। ऐसा जानकर अपने निज स्वरूप में प्रवेश करना ही सुख का लक्षण है। जैसे परमार्थ प्रकाश में प्रभाकर भट्ट को समझाते हुए कहा है, कि–'हे भव्य जीव! पर द्रव्य को छोड़कर जिसने अपना स्वरूप केवल ज्ञान पा लिया है वही परमात्मा है और वह अपने अन्दर है। इसी का ध्यान करो।

जिसने देहादिक समस्त परद्रव्य को छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनों से रहित केवलज्ञानमयी अपनी आत्मा का लाभ कर लिया है, ऐसे आत्मा को हे प्रभाकर भट्ट, तू माया, मिथ्या, निदान रूप शल्य वगैरह समस्त विभाग (विकार) परिणामों से रहित निर्मल चित से परमात्मा जान, तथा केवलज्ञानादि गुणों वाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादि रूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है, ऐसा समझना चाहिए।

सारांश यह है कि केवलज्ञानादि रूप उस परमात्मा के समान रागादि रहित अपने शुद्धात्मा को पहचान, वही साक्षात् उपादेय है, अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं। अब संकल्प विकल्प का स्वरूप कहते हैं, कि जो बाह्य वस्तु पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब बांधव, वगैरह सचेतन पदार्थ तथा चाँदी, सोना, रत्न, मणि के आभूषण वगैरह अचेतन पदार्थ हैं, इन सबको अपना समझे, कि ये मेरे हैं, ऐसे ममत्व परिणाम को संकल्प जानना तथा मैं सुखी, मैं दु:खी इत्यादि हर्ष विषाद रूप परिणाम होना वह विकल्प है। इस प्रकार संकल्प और विकल्प का स्वरूप जानना चाहिए।

पंचेन्द्रिय विषय से दु:खी होकर भी यह जीव उस दु:ख को न छोड़ते हुए पुन: पुन: उसी को अनुभव करता है ऐसा कहते है–

एन्नैदु इंद्रियंगळ वेन्न बेसकेय्ये नमेदे निन्नेगमवनि।
नेन्न वशमागि माडुवे नैन्नदे कय्यु दु:खमं मेच्चिदेयै ॥86॥

अर्थ–हे जीव! मेरे पाँच इन्द्रिय के विषय जब मुझे ही भज रहे थे तब मैंने बहुत कष्ट पाया। अब मैं उनके आधीन नहीं होऊँगा। इस तरह तू विचार न करके जान बूझकर उन्हीं इन्द्रियों को पुन: सेवन करके दु:ख उठा रहा है। तू पुन: उसी में रागी क्यों होता है॥86॥

विवेचन–ग्रन्थकार ने इस श्लोक में इस प्रकार विवेचन किया है कि जीव ने उस विषय भोग को नहीं भोगा परन्तु विषय भोग जीव को भोग रहा है। अनादि काल से जिसको मैं खा रहा हूँ, पी रहा हूँ और मैं अनुभव कर रहा हूँ, इस प्रकार ऐसी मान्यता वस्तुत: अज्ञान के कारण ही है परन्तु हे प्राणी! विचार कर कि पंचेन्द्रिय विषय को तू नहीं भोग रहा है परन्तु पंचेन्द्रिय विषय तुझको भोग रहा है। कहा भी है कि–

भोगो न भुक्ता: वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता:।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृणा न जीर्णा वयमेव जीर्णा: ॥

हमने भोग नहीं भोगे बल्कि भोगों ने हमको भोगा है। हमने तप नहीं तपे बल्कि हमीं तपे हैं, काल नहीं बीता बल्कि हम ही समाप्त हुए हैं, और तृष्णा वृद्ध नहीं हुई बल्कि हम ही जर्जरित हो गये हैं।

अज्ञान से आत्मा अपने स्व स्वरूप से च्युत होने के कारण पर ने मग्न होकर पर द्रव्य से उत्पन्न होने वाले जो रस हैं, उनके वशीभूत होकर कहता है कि मैंने स्वाद ले लिया, मैंने खा लिया, मैंने अनुभव कर लिया। इस तरह से यह जीव अज्ञान से अनादि काल से जड़ पंचेन्द्रिय विषयों का स्वादी बना हुआ है। परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि हे अज्ञानी जीव! आज तक तेरी समझ में नहीं आया कि तेरा स्वरूप ज्ञान दर्शन चैतन्य अखण्ड अविनाशी और अमूर्तिक है और जो रूपी पदार्थ मेरे सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे जड़ हैं। परन्तु इसका

और मेरा, रूपी और अरूपी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। मेरा स्वरूप भिन्न है और जड़ का स्वरूप भिन्न है। दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इस प्रकार तूने विचार कर नहीं देखा। अज्ञान से पर वस्तु में परिरमण भाव करता है। जब परद्रव्य की मर्यादा पूर्ण हो जाती है तब उसको अपनी मर्यादा पूर्ण समझता है। तेरा रूप हमेशा ब्रह्म स्वरूप है, तू अपने में उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान रूपी रस को ग्रहण करने वाला है और अपने अन्तर के सुख रूप अन्न को खाकर सुखी होने वाला है। जो पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न होने वाला है उससे पुद्गल की पुष्टि हो सकती है परन्तु आत्मा की पुष्टि कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार विचार करके बाह्य राग परिणति को मिटाने की कोशिश कर। पर द्रव्य, पर भाव, पर क्षेत्र, पर काल आदि पर चतुष्टय को दूर करके अपने अन्दर अनादि काल से स्वभाव, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वद्रव्य इस तरह से जो यह स्व चतुष्टय है यही आत्मा का स्वरूप है। तू अपने अन्दर देखेगा तो तू पंचेन्द्रिय विषय को भोगने वाला नहीं है। अपने अतीन्द्रिय विषय का स्वादी आपही है। पंचेन्द्रिय विषय का सेवन करने वाला मैं नहीं हूँ इस तरह से भावना करके रागपरिणति को दूर करना ही बुद्धिमत्ता है।

भेदभाव मिटने के बाद ज्ञानी किसी भी पर द्रव्य को अपना नहीं मानता है। जब तक भेद नहीं मिटता है तब तक अज्ञानी जीव भेदभाव को लेकर पर द्रव्य रूप में परिरमण करता है। जब तक अज्ञान भाव रहता है, तब तक अपने को पर का कर्ता मान लेता है। जब स्व पर का ज्ञान हो जाता है तो आप ही अपना कर्ता-धर्ता हो जाता है। कहा भी है कि—

चेया उ पयडियट्टं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ॥
एंव बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए॥

यह आत्मा अनादि से लेकर अपने और बंध के पृथक्-पृथक् लक्षण

का भेद ज्ञान न होने से पर और आत्मा के एकपने का निश्चित अभिप्राय करने से पर द्रव्य का कर्ता हुआ ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है। और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश की प्राप्ति होती है, आत्मा के परिणाम के अनुसार परिणमती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति इन दोनों के परमार्थ से कर्ता कर्मपने के भाव के अभाव होने पर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव से दोनों के ही बन्ध देखा जाता है उस बन्ध से संसार होता है, उसी से दोनों के कर्ता कर्म का व्यवहार प्रवर्तता है।

आत्मा और प्रकृति के परमार्थ से कर्त्ता कर्मपने का अभाव है तो भी परस्पर निमित्त नैमित्तिकभाव से कर्ता कर्म का भाव है, इससे बन्ध है, बन्ध से संसार है। ऐसा व्यवहार है।

इस प्रकार हे योगी! अपने मन में इस तरह से विचार करके पर पदार्थ में ममत्व भाव से रहित होकर आप अपने अन्दर स्वभाव पर विचार कर तो शीघ्र ही शुद्ध निजात्म रस का स्वादी होकर शुद्ध परमात्मा स्वरूप निरंजन आत्मा हो जाएगा। इससे तुझे सुख और शान्ति मिलेगी। पर द्रव्य के मोह से या पंचेन्द्रिय के विषय से तुझे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी। यही सद्गुरु का उपदेश है।

यह जीव तीन प्रकार के भावों में परिरमण करता है। ऐसा कहते है.

अशुभदिन शुभं शुभदिंदे शुभनें तां शुद्धदिंद शुद्धने यक्कुं।
निशितमति बगेवोडदरिं विशुद्धशुद्धोपयोग मतंदु सारं॥87॥

अर्थ—यह जीव अशुभ भावनाओं से अशुभ, शुभ भावना से शुभ और शुद्ध भावनाओं से शुद्ध होता है अर्थात् जैसे भाव करता है वैसा होता है। तीक्ष्ण बुद्धि वाला जीव ही अगर ठीक विचार करे तो अपने अन्दर सारे विचार करके अशुभ और शुभ दोनों भावों से रहित होकर अपने अन्दर ही रत हो परिशुद्ध बन शुद्ध निरंजन परमात्मा बन सकता है ये ही इसका सार है।

जीव के अन्दर अशुभ, शुभ और शुद्ध ऐसे तीन परिणाम होते हैं। इन तीन भावनाओं में से हमेशा इस जीव के अन्दर प्रति समय कोई न कोई परिणाम रहता ही है। अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है और शुभ योग से पुण्य बन्ध होता है। शुद्धोपयोग से पाप पुण्य दोनों नष्ट होकर अन्त में मोक्ष प्राप्ति होती है। इसलिये इन तीनों योगो में से अन्त के शुद्धोपयोग का ही ध्यान करना ज्ञानी योगी को उचित है ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं॥87॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस लोक में जीव के तीन प्रकार के परिणाम कहे हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीनों परिणामों में से जीव के अन्दर हमेशा कोई न कोई परिणाम रहता ही है। अशुभ भावना से अशुभ परिणामों का बंध होता है। शुभ परिणाम से शुभ भावना का बंध होता है और शुद्ध योग से शुद्ध भाव होता है। ग्रंथकार ने सबसे पहले अशुभ योग का त्याग करने के लिये उपदेश किया है। अशुभ परिणाम के द्वारा ही लक्ष चौरासी योनियों में इस जीव को परिभ्रमण करना पड़ता है कभी नारकी कभी पशुगति, कभी मनुष्यगति, कभी शुभ भावनासे देवगति आदि पर्याय में जन्म लेता है। जब यह जीव शुभ और अशुभ दोनों को त्याग देता है तब शुद्धोपयोग को प्राप्त होकर ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा संपूर्ण कर्मों का नाश कर मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

ग्रंथकार कहते हैं कि इस संसारी अज्ञानी प्राणी को नरक निगोद या दुर्गति का बंध कराने वाले अशुभ भाव हैं। उनको त्याग करने का उपदेश दिया गया है। परमात्म प्रकाश में योगीन्द्राचार्य ने भी कहा है कि—

सुह-परिणामे धम्मु पर असुहे होइ अधम्मु।
दोहि वि एहि विवज्जियउ शुद्ध ण बंधइ कम्मु॥71॥

बड़ाई, प्रतिष्ठा, परवस्तु का लाभ, और देखे सुने भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान, इनसे जबतक यह चित्त रंगा हुआ है, अर्थात् विषय कषायों से तन्मय है, तब तक हे जीव! किसी देश में जा, तीर्थादिकों में भ्रमण

कर अथवा चाहे जैसा आचरण कर, किसी प्रकार मोक्ष नहीं है। कहा है—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध उज्जवल है उसके काला रंग लगावे, तो काला मालूम होता है, और पीला रंग लगावे तो पीला भासता है, और यदि कुछ भी न लगावें, तो शुद्ध स्फटिक ही है। उसी तरह यह आत्मा क्रम से अशुभ, शुभ, शुद्ध इन परिणामों से परिणत होता है। उनमें से मिथ्यात्व और विषय कषायादि अशुभ के अवलम्बन से तो पाप को ही बाँधता है। उसके फल से नरक निगोदादि के दु:खों को भोगता है और अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियों के गुणस्मरण और दानपूजादि इन शुभ क्रियाओं से संसार की स्थिति का छेदनेवाला जो तीर्थङ्कर नामकर्म है उसको आदि ले विशिष्ट गुणरूप पुण्यप्रकृतियों को अवांछित वृत्ति से बांधता है तथा केवल शुद्धात्मा के अवलम्बनरूप शुद्धोपयोग से उसी भव में केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष को पाता है। इन तीन प्रकार के उपयोगों में से सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, अन्य नहीं है और शुभ अशुभ इन दोनों में से अशुभ तो सब प्रकार से निषिद्ध है, नरक निगोद का कारण है, किसी तरह उपादेय नहीं है हेय है, तथा शुभोपयोग प्रथम अवस्था में उपादेय है, और चरम अवस्था में उपादेय नहीं है, हेय है।

निश्चय से आत्म-ज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थों का ज्ञान है इससे प्रयोजन नहीं है।

जं णियथबोइहं वाहिरउ णाणु वि कज्जु ण तेण।
दुक्खह कारणु जेण तर जीवहं होइ खणेण ॥75॥

आगे निश्चयकर आत्मज्ञान से बहिर्मुख बाह्य पदार्थों का ज्ञान है, उससे प्रयोजन नहीं सधता, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर कहते हैं—जो आत्मज्ञान से बाहर शास्त्र वगैरह का ज्ञान भी है उस ज्ञान से कुछ कार्य नहीं क्योंकि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान रहित तप शीघ्र ही जीव को दु:ख का कारण होता है। निदान बंध आदि तीन शल्यों को आदि ले समस्त विषयाभिलाषरूप

मनोरथों के विकल्पजालरूपी अग्नि की ज्वालाओं से रहित जो निज सम्यग्ज्ञान है, उससे रहित बाह्य पदार्थों का शास्त्र द्वारा ज्ञान है, उससे कुछ काम नहीं। कार्य तो एक आत्मा के जानने से है।

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया, कि निदानबंध रहित आत्मज्ञान तुमने बतलाया उसमें निदानबंध किसे कहते हैं? उसका समाधान—देखे सुने और भोगे हुए इन्द्रियों के भोगों से जिसका चित्त रंग रहा है, ऐसा अज्ञानी जीव रूप-लावण्य सौभाग्य का अभिलाषी वासुदेव चक्रवर्ती पद के भोगों की वांछा करे, दान पूजा तपश्चरणादिकर भोगों की अभिलाषा करे, वह निदानबंध है। सो यह बड़ी शल्य है। इस शल्य से रहित जो आत्मज्ञान है उसके बिना शब्द शास्त्रादि का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान रहित तप भी दु:ख का कारण है। ज्ञान रहित तप से जो संसार की सम्पदायें मिलती हैं, वे क्षणभंगुर हैं। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि आत्मज्ञान से रहित जो शास्त्र का ज्ञान और तपश्चरणादि हैं, उनसे मुख्यताकर पुण्य का बंध होता है। उस पुण्य के प्रभाव से जगत की विभूति पाता है, वह क्षणभंगुर है। इसलिये अज्ञान तप और श्रुत यद्यपि पुण्य का कारण है तो भी मोक्ष का कारण नहीं है।

इसलिये शुद्धात्म बिना कोई चीज आदर योग्य नहीं है। मिथ्यात्व रागादिक के छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान में जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़ के दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती। इसलिये उनका मन कभी विषयवासना में नहीं रमता। ये विषय कैसे हैं जो कि शुद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं। ये भव भ्रमण के कारण हैं, काम भोगरूप पांच इन्द्रियों के विषय उनमें मूढ़ जीवों का ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टि का मन नहीं रमता। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि, जिन्होंने वीतराग सहजानंद अखंड सुख में तन्मय परमात्मतत्व को जान लिया है। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि जो विषय-वासना के अनुरागी

हैं, वे अज्ञानी हैं और जो ज्ञानी जन हैं, वे विषयविकार से सदा विरक्त ही हैं।

दिखने वाला रूप ज्ञान नहीं है ऐसा कहते हैं।

रूपं ज्ञानमुमल्लवु रूपं वगेवागकेनुमरियव वैदुं।
रूपमने नोडि मुलिवै रूपि नोळ्तिके रागमं नी माक्पै ॥88॥

अर्थ—हे जीव! रूप ज्ञान रूप नहीं है। रूप को जानते समय ये पांच प्रकार के—श्वेत, पीत, हरा, नीला, काला आदि रूप तुझको या तेरे स्वरूप को नहीं जानते हैं। फिर तू ऐसे रूप को देखकर उनसे क्यों द्वेष करता है और रूप में इस प्रकार प्रेम क्यों करता है? ॥88॥

विवचेन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि हे योगी! पीला, नीला, हरा आदि रूप को देखकर क्यों रागद्वेष करता है? क्योंकि यह रूप तुझको अर्थात् तेरे स्वरूप को नहीं जानता है, तेरे स्वरूप को नहीं जानने वाले रूप को अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चेतना रहित जड़रूप को देखकर उनसे द्वेष क्यों करता है? और वह जड़ है, तेरा रूप अरूप है, और ज्ञान दर्शन चेतन स्वरूप है और रूपातीत है। ऐसा जानते हुए तुझे जड़ से द्वेष करना उचित नहीं है। कदाचित् तू धारण किये हुए शरीर के गोरे रूप को देखकर उससे प्रेम करता है। काले रूप को देखकर द्वेष करता है।

अरे अज्ञानी जीव! तूने सुरूप और कुरूप के प्रति रागद्वेष करके अत्यन्त निंद्यगति को प्राप्त होकर गधा, ऊँट, सुअर आदि अनेक पर्याय में जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःख पाये हैं। यह दुःख तुझे अपने अज्ञान के कारण ही उठाने पड़े। इन जड़ शरीरादि रूपी पदार्थ पर रागद्वेष करने से तुझे कौन सा फायदा हुआ? उससे उल्टा दीर्घ संसार का चक्कर काटना पड़ रहा है। इसलिए जीव! अब तू जड़ रूप का रागद्वेष, मोह छोड़कर अपने अरूपी सच्चिदानन्द अखंड अविनाशी अनेक गुण के भंडार रूपातीत आत्मा के ऊपर प्रेम कर तभी शांति मिलेगी अन्यथा कहीं पर शांति नहीं मिलेगी। जितने भी कुरुप सुरूप शरीर या अन्य रूपी पदार्थ तुझे प्राप्त हुए हैं ये भी पूर्वजन्म में

उपार्जन किये हुए पाप-पुण्य के द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। परन्तु ये सभी पदार्थ पाप और पुण्य की मर्यादा को लेकर आये हैं। जिस समय यह मर्यादा पूर्ण होती है, उसी दिन तुझसे ये जुदा हो जाया करते हैं। अत: अब तू चेत और अपने शरीर रूपी घट के बीच पड़े हुए अरूपी आत्मानन्द का अनुभव कर।

जब तक बाह्य विषयों से उपरत न होगा, तुझे भी सुख और शान्ति नहीं मिलेगी यह निश्चय समझ। निश्चय से चिन्ता रहित ध्यान ही मुक्ति का कारण है। जहाँ चिन्ता है, वहाँ मोक्ष नहीं। आगे कहा है कि–

अद्धम्मीलिय-लोयणिहि जोउ कि झंपिए एहिं।
एमुइ लब्भई परम-गइ णिचिंतिं ठियएहिं॥

ख्याति पूजा और लाभ आदि समस्त चिन्ताओं से रहित जो निश्चित पुरुष हैं, वे ही शुद्धात्म स्वरूप में स्थिरता पाते हैं, उन्हीं को ध्यान की सिद्धि होती है, और वे ही परम गति के पात्र हैं।

पर पदार्थ की चिन्ता हमेशा ही संसार के लिए कारण है इसलिए योगी निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव, परमार्थ चिन्तन में पर की चिन्ता को छोड़ेगा तभी चिन्ता के अभाव से संसार भ्रमण छूटेगा। शुद्धात्म द्रव्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार से मुक्त होगा। जब तक चिन्ता है तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरों की तो क्या बात है, तीर्थङ्कर देव भी केवल ज्ञान अवस्था के पहले जब तक कुछ शुभाशुभ चिन्ता से सहित थे तब तक वे भी रागादिक रहित शुद्धोपयोग परिणामों को नहीं पा सके। संशय, विमोह, विभ्रम रहित अनन्त ज्ञानादि निर्मल गुण सहित हंस के समान उज्जवल परमात्मा का शुद्ध भाव हैं वह चिन्ता के बिना छोड़े नहीं होता। तीर्थङ्कर देव भी मुनि हो के निश्चित व्रत धारण करते हैं तभी परमहंस दशा पाते हैं। ऐसा व्याख्यान ज्ञान कर देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की बांछा आदि समस्त चिन्ताजाल को छोड़ कर परम सिद्धात्मा की भावना करने योग्य है। इसलिये हे योगी! अगर तुझे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति करना है तो मन को मार करके परब्रह्म का ध्यान करो। हे योगी! तेरी

क्या खोटी बुद्धि है जो तू संसार के कारण रूप व्यवहार करता है। अब तू मायाजाल रूप पाखंडों से रहित जो सिद्धात्मा है, उसको जानकर विकल्प जालरूपी मन को मार।

आगे आत्मा को मलिन करने वाली चंचलता को छोड़ने का उपदेश देते हैं–

पोर्ददे चलमलिनतेयं पोर्ददे परवस्तु वनितुमं वशकरमं।
पोर्ददे निजात्म भावदोळ्दिंडे शुद्धोपयोग मेंबुदनरिया॥89॥

अर्थ–हे जीव! अपने चंचल मन को पर वस्तु से हटा और पर वस्तु के आधीन न होकर अपने आत्म भाव में अर्थात् निजात्म चिन्तन में अगर स्थिर होगा तभी शुद्धोपयोग होगा इस प्रकार तू समझ।

विवेचन–आचार्य बतला रहे हैं कि यह मन पर वस्तु के आधीन होकर हमेशा आत्मा को मलिन करता है। ऐसी मलिन करने वाली पर वस्तु से हटाकर अपने आत्म ध्यान में अर्थात् निज आत्म शुद्धोपयोग में अगर तू लवलीन होगा और उसी का ध्यान करेगा तो शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। पर वस्तु से बिल्कुल मन को हटाकर उसका ध्यान न करना उसका नाम भी शुद्धोपयोग है। जैसा तू ध्यान करेगा उसी प्रकार तुझे फल मिलेगा और उसी प्रकार आत्मा परिणमन करेगा। जैसे कि स्फटिक माणि के पीछे लाल फूल जैसा रक्खा जाता है वैसी ही स्फटिक मणि दिखाई देती है। उसी प्रकार आत्मा का उपयोग जिधर लगाओगे, उसी रूप में आत्मा भी दिखाई देती है।

योगीन्द्र आचार्य ने कहा है कि–

जेण सरुविं झाइयइ अप्पा एहु अणंतु।
तेण सरुविं परिणवइ जह फलिहउ मणि मंतु॥

यह आत्मा शुभ, अशुभ, शुद्ध तीन उपयोग रूप परिणमता है। जो अशुभ योग का ध्यान करे तो पाप रूप परिणाम है। शुभ योग का ध्यान करे तो पुण्य रूप ध्यान है। जैसे स्फटिक मणि के नीचे जैसा रंग लगाओ अर्थात् हरा, पीला, लाल, वह उसी रूप में स्फटिक मणि में प्रगट होता है। उसी तरह

जीव द्रव्य जिस रूप में परिरमण करता है उसी रूप समझता है। जिस-जिस तरह आत्मा परिरमण करती है उसी-उसी रूप से आत्मा तन्मय हो जाती है। जैसे स्फटिक मणि उज्जवल है उसके नीचे जैसा रंग लगाओ, वैसा ही दिखाई देती है। ऐसा ही आत्मा का स्वरूप समझना चाहिए। समस्त रागादि विकल्प को छोड़ कर आत्मा के शुद्ध रूप को ध्यावे और विकारों पर दृष्टि न रक्खे, सम्पूर्ण चंचलता को छोड़ दे। जब तक पर वस्तु के प्रति चंचलता रहेगी तब तक आत्म ध्यान नहीं हो सकता है।

पर द्रव्य का प्रसंग महान दु:ख मय है इसलिए हे योगी! उस चिन्ता से दूर हों कहा भी है कि–

भल्लाहं वि णासंति गुण जहाँ संसग्ग खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं॥

विवेकी जीवों के शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी, द्वेषी, अविवेकी जीवों की संगति से नष्ट हो जाते हैं। अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व, रागादि अशुद्ध भावों के सम्बन्ध से मलिन हो जाते हैं। जैसे अग्नि लोहे के संग से पीटी कूटी जाती है। यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है, उसी तरह दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह कथन जानकर वह आकुलता रहित सुख के घातक देखे, सुने, अनुभव किये भोगों की वाँछा रूप निदानबन्ध आदि खोटे परिणाम रूपी दुष्टों की संगति नहीं करना अथवा दोषयुक्त रागी, द्वेषी, जीवों की संगति कभी नहीं करना।

आकुलता ही दु:ख है इसका मूल मोह है। मोही जीवों को दुखी जानो। वह मोह परमात्म स्वरूप की भावना का प्रतिपक्षी, दर्शनमोह चारित्र मोहरूप है इसलिए तू उसको छोड़। पुत्र, स्त्री, आदिक में मोह की बात से दूर रह, ये तो प्रत्यक्ष में त्यागने योग्य ही हैं, और विषय वासना के वश देह आदिक पर वस्तुओं का रागरूप मोह जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना चाहिए। अन्तर बाह्य मोह को त्याग कर सम्यक् स्वभाव अंगीकार कर। शुद्धात्मा की

भावना के लिए जो तपश्चरण है वह शरीर द्वारा होते हैं। शरीर स्थिति के लिए अन्न जलादिक लिए जाते हैं, उनमें विशेष राग न करना, राग रहित नीरस आहार ही लेना चाहिए।

आत्मा को नहीं भूलना ही शास्त्र हे, वही तपश्चर्या है, वही दीक्षा है, निज शुद्धात्मा के मनन आदि में रुचि रखना भी इसी श्रेणी का नाम है–

मरेपिल्लददुवे श्रुतं मरेपिल्लददुवे मोक्षमार्गय दनिकुं।
मरेपिल्लददुवे तपं मरेपिल्लददुवे दीक्षेगोडुव निजगुरुवेनिकुं॥90॥

अर्थ–स्व पर ज्ञान से आत्मा को पहचान कर उसी के अन्दर रत रहना तथा रूचि रखना ही सच्चा शास्त्र है। भगवान वीतराग द्वारा कहा गया सात तत्वों का बार-बार मनन करना मोक्ष का मार्ग है। उसी तत्व के अन्दर रमण करके सच्चे निजात्म तत्व में रमण करना ही तपश्चर्या हैं पर वस्तु का सम्पर्क अपनी आत्मा से न होने देना ही दीक्षा है और वही दीक्षा देने वाले गुरु हैं। अपने निज स्वरूप को अपने द्वारा समझ कर अपने अन्दर ही रमण करना और आपको आप ही जानना ये ही गुरु है। वस्तु में रहने वाले दोष को ढकने के लिए कोशिश करना और अपने स्वरूप को प्रकाशित करना ये ही उपगूहन अंग है। अपनी वस्तु अपने द्वारा प्रगट करने की शक्ति लगाना, पुरुषार्थ करना ही वस्तु स्वरूप का जानना है। इसको छोड़कर और कोई उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण आदि कोई दूसरा अंग नहीं है। ऐसा आचार्य ने कहा है।

कहने का तात्पर्य है कि शरीर और आत्मा का भेद ज्ञान ही लाभकारी है। बिना भेद ज्ञान हुए दीक्षा, शास्त्र स्वाध्याय, तप आदि आत्मा कल्याण का कारण नहीं है। इसलिए मुख्यतः जीव को सबसे पहले स्व और पर ज्ञान की जरूरत है। कहा भी है कि–

संघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजा परा।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणी पृष्ठैः कुतः संस्तरः॥

कर्तात्मैव विबुध्यतायममलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा॥

यहाँ आचार्य बतलाते हैं कि भेद विज्ञान से ही आत्म ध्यान की सिद्धि होती है। जो आत्मा को भली प्रकार समझ लेता है कि जैसे दूध और पानी का सम्बन्ध। दूध से पानी अलग है, वैसे ही आत्मा से पुद्गलमयी शरीरादि अलग हैं। जो पर को पर जानकर पर से ममत्व छोड़ देता है और निर्मल आत्मा को शुद्ध चैतन्यमयी सिद्ध भगवान के समान जानकर उसी आत्मिक तत्व में अपने उपयोग को स्थिर कर देता है। वह आत्मा आत्मध्यान करके आत्मा की सिद्धि कर सकती है। जिस किसी के ऐसा आत्मध्यान तो हो नहीं और वह मुनियों के संघ में घूमा करे या आचार्यों की पाद पूजा व भक्ति किया करे व संसारी जीवों में अपनी विद्या का चमत्कार दिखाकर प्रतिष्ठा पाया करे व कभी तिनके का, कभी काष्ठ का, कभी पाषाण का, कभी भूमितल का ही आसन बिछाकर बैठा करे तो ये सब कार्य उसके आत्मध्यान के साधक नहीं हैं। इसलिए जो स्वहित करना चाहते हैं, उनको उचित है कि इन सब कारणों को मात्र बाहरी निमित्त कारण जाने। इनके सहारे भेद विज्ञान द्वारा जो सामायिक का अभ्यास करते हुए आत्मध्यान में लयता प्राप्त करते हैं वे ही सच्चे समाधि भाव को पाते हैं व उनका ही साधन मोक्ष का साधन है। बिना शुद्ध निश्चय नय का आलम्बन पाए पर से विराग नहीं होता है। पर से विराग बिना स्वात्माराम में विश्राम नहीं होता। यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है तथापि उसको निर्मल जल के समान अपने शरीर में देखना चाहिए और जैसे गंगा नदी में गोता लगाया जाता है वैसे अपने आत्मा के जल सदृश निर्मल स्वभाव में अपने मन को डुबाना चाहिए। ॐ या सोऽहं मंत्र का आश्रय लेकर बार-बार मन को आत्मरूपी नदी में डुबाने से मन का चंचलपना मिटता है और वीतरागता का भव्य बढ़ता जाता है। आत्मध्यान ही परमोपकारी जहाज है। इसी पर चढ़ के भव जीव संसार से पार हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी को आत्मध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अमूर्त आकाश के ऊपर चित्र का निर्माण करना असम्भव है उसी प्रकार अतीन्द्रिय आत्मा के विषय में कुछ वर्णन करना भी असम्भव ही हैं यह तो केवल स्वानुभव के गोचर है। जो उस आत्मा में लीन है, वह तो दूर ही रहे। किन्तु जो उसका चिन्तन मात्र करता है उसका जीवन प्रशंसा के योग्य है, वह देवों के द्वारा भी पूजा जाता है। जो सर्वज्ञ देव संसार से पृथक् अर्थात् जीवन मुक्त होते हुए केवल ज्ञान रूप नेत्र को धारण करते हैं, उन्होंने इस आत्मा के आराधन का उपाय एक मात्र समताभाव बतलाया है। साम्य, स्वास्थय, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जहाँ न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण नीलादि वर्ण है, और न कोई विकल्प ही है, किन्तु जहाँ केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसी को साम्य कहा जाता है। वह समताभाव उत्कृष्ट तत्व माना गया है। वही समताभाव सब उपदेशों का उपदेश है जो मुक्ति का कारण है, अर्थात् समताभाव का उपदेश समस्त उपदेशों का सार है, क्योंकि उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। समताभाव सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, वह शाश्वतिक (नित्य) सुख का स्थान है, वह समताभाव शुद्ध आत्मा का स्वरूप तथा मोक्ष रूपी अनुपम प्रासाद का द्वार है। पंडित जन समताभाव को समस्त शास्त्रों का सार बतलाते हैं। वह समताभाव कर्मरूपी महाबन को भस्म करने के लिए दावानल के समान है। जो समताभाव योगी जनों के योग का विषय होता हुआ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के निमित्त से उत्पन्न हुए समस्त दोषों को नष्ट करने वाला है वह शरणभूत कहा जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है कि–

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः॥
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः।

शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥

ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादिक को अच्छा जानकर उनको ही अपना स्वभाव मानकर उन्हीं में निश्चित हैं। उनको श्री गुरु दयालु होकर सम्बोधन करते हैं कि हे अन्धे प्राणियो! तुम जिस पद में सोते हो वह तुम्हारा पद नहीं है, तुम्हारा पद तो चैतन्य स्वरूपमय है, उसको प्राप्त होओ ऐसा सावधान करते हैं। जैसे कोई महन्त पुरुष मद पीकर मलिन जगह में सोता हो, उसको कोई आकर जगावे और कहे कि तेरी जगह तो सुवर्णमय धातु की अतिदृढ़ शुद्ध सुवर्ण से रची और बाह्य कजोड़े से रहित शुद्ध ऐसी है। सो हम बतलाते हैं, वहाँ आओ, वहाँ ही शयनादि कर आनन्द प्राप्त करो। उसी तरह श्री गुरु ने उपदेश से सावधान किया है कि बाह्य अन्य द्रव्यों से मिलाप नहीं, और अन्तरंग विकार नहीं, ऐसे शुद्ध चैतन्य रूप अपने भाव का आश्रय करो। दो-दो बार कहने से अति करुणा अनुराग सूचित होता है।

आगे कहते हैं कि तुम इसी प्रकार मुक्ति स्थान को प्राप्त करके अनन्त सुख को प्राप्त करो।

इंती निलवं पडेदात्यंतिक सुखपद मनेय्दु जिननाथंप्रो।
ल्दंतिर्दु निम्मनीं निश्चिंतं नोड्डुगु नीने जन्मअयमं॥91॥

अर्थ—हे जीव! तू इसी तरह इस स्थान को प्राप्त कर अनन्त सुख को प्राप्त कर। तब सुख का मार्ग अपने अन्दर मिलेगा। भगवान जिनेश्वर द्वारा कहा हुआ जो उपदेश है उस उपदेश के अनुसार निश्चित होकर अपने अन्दर ही देख। इस प्रकार देखने से इह लोक और पर लोक दोनों की नष्ट करके मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करेगा। जब तक तू पर वस्तु में रमण करेगा, तब तक तुझे मोक्ष मार्ग नहीं मिल सकता॥91॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने कहा है कि जो भगवान जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए मार्ग के अनुसार आराधना करके तू अपने अन्दर ही देखेगा तो अपनी

चीज तेरे अन्दर ही मिलेगी। अन्य कहीं नहीं मिल सकती। जैसे हिरण की नाभि में कस्तूरी रहती है। वह कस्तूरी उसे दिखाई नहीं देती। उसकी खुशबू के लिये दौड़ धूप करता है। इसी तरह अखण्ड अविनाशी परम वीतराग निर्विकल्प आत्मानन्द सुखामृत अपने पास होते हुए भी यह जीव अपने आपको न समझ कर बाहर के पंचेन्द्रिय विषयों की और दौड़ धूप करता है और पर द्रव्य के द्वारा दुखी हो रहा है और सुख को बाहर ढूँढ़ रहा है।

जैसे कोई जौहरी रत्नों की माला अपने गले में लटका करके भूल कर उसको अन्यत्र ढूँढ़ता है। कहीं पेटी, तिजोरी आदि में देखता है। परन्तु अपने गले में लटकने वाला वह रत्नों का हार अन्यत्र पेटी आदि में कहाँ मिलेगा अर्थात् कदापि नहीं मिल सकता। इसी तरह अनादि काल से तू अपना स्वरूप, अपना सुख अपने अन्दर होते हुए भी उसे बाहर पदार्थों में ढूँढ़ता फिर रहा है परन्तु वह सुख अपने अन्दर ही विद्यमान है। इसलिए भूली हुई वस्तु को बतलाने वाले श्री जिनेन्द्र देव के आगमरूपी दर्पण को जब तक न देखे, जब तक ठीक मनन न करे, तब तक वस्तु हमारे पास होते हुए भी नहीं मिलेगी। भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ मार्ग हमारे लिये दर्पण के समान है। उसी मार्ग के सहारे हम अपने लक्ष्य को व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा पहुँच सकते हैं। इसलिए हमको भगवान

जिनेन्द्र देव द्वारा कहे हुए सात तत्व, नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पांच पंचास्तिकाय ऐसे तत्वों का मनन करके जीव तत्व को उपादेय और अजीव तत्व को उससे भिन्न मानकर अपने आत्मा में ही रत रहना तथा उसी का मनन करना वो ही अपना स्वरूप है। यह स्वरूप तेरे पास है। इसको साध्य करने के लिए पहले भगवान जिनेन्द्रदेव के व्यवहार तत्व को तू साधन, निमित्त बना। ऐसे किये बिना निज तत्व की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

अज्ञानी जीव जब तक पंचेन्द्रिय विषयसम्बन्धी पर द्रव्य में रत रहता है, तब तक अनेक प्रकार के संशय आदि इसके मन में उत्पन्न होते रहते हैं। इस शरीर को अपना मानकर या इसके निमित्त से होने वाले सुख दुःख के प्रति इसके अन्दर भ्रम पैदा होता है। वह समझता है कि बाह्य पदार्थ ही मुझे दुःख देते हैं। परन्तु संसारी अज्ञानी प्राणी को यह पता नहीं कि ये पंचेन्द्रिय विषय जड़ हैं और मेरी आत्मा शुद्ध चैतन्य इससे भिन्न पदार्थ है और अरूपी हैं अरूपी पदार्थ रूपी पदार्थ को कैसे पकड़ सकता है। इस तरह विचार न कर वह अज्ञानी मन में धारण करता है कि जड़ ने मुझे पकड़कर रखा है। यही अज्ञान इस जीव को दुःख का कारण हो जाता हे।

उदाहरणार्थ—जैसे एक बन्दर किसी के घर में प्रवेश करता है। चने के भरे हुए घड़े में हाथ डालता है। जब चना मुठ्ठी में दबाता है और अपना हाथ बाहर निकालने की कोशिश करता है तब उसका हाथ नहीं निकलता है

तो बन्दर यह समझता है कि मुझे घड़े ने पकड़ा है तब वह मुँह फाड़ कर चिल्लाने लगता है। तब घर वाले डण्डे से पिटाई करते हैं तो वह चने छोड़ देता है और उसका हाथ निकल जाता है। परन्तु अज्ञानी बन्दर यही सोचता है कि घड़े ने मुझे पकड़ रखा है। इसी तरह इस अज्ञानी जीव ने संसार में पर पदार्थ को खुद ही पकड़ कर रखा हुआ है और समझता है कि मुझे पर पदार्थ ने पकड़ा हुआ है। इस तरह से जब तक अज्ञान भाव है तब तक सुख दु:ख को यह जीव हमेशा सहता रहता है। इसलिए श्री गुरुदेव कहते हैं कि हे अज्ञानी प्राणी! संसार में जितने रूपी पदार्थ हैं वे सब चेतना रहित हैं और तू शुद्ध चैतन्य ज्ञान दर्शन से पूर्ण है और अरूपी है, जड़ पदार्थ को तूने खुद पकड़ा हुआ है और तू अपने को पागल के समान अज्ञान अवस्था में 'जड़ ने मुझको पकड़ा है छुड़ाओ 2' आदि चिल्लाता है और अनेक प्रकार के दु:ख या संताप सहते हुए संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे जीव! तू अज्ञान से जड़ के साथ सम्बन्ध करके जड़ के द्वारा हीं दु:ख पा रहा है, जैसे अग्नि लोहे की संगति से पीटी जाती है। उसी तरह हे आत्मन्! जड़ वस्तु के संसर्ग से तुझको दु:ख भोगना पड़ता है। अर्थात् पंचेन्द्रिय विषय की मार बार-बार खा करके दु:ख उठाना पड़ता है। इसलिए तू जड़ वस्तु पर राग और मोह को त्याग, तब तू सुखी हो जायेगा और असली निजात्म तत्व की प्रतीति तुझे होगी। तभी तू सुखी होगा।

कोई मूर्ख जीव जंगल में एक झाड़ को पकड़कर कहता है कि मुझे छुड़ाओ, मुझे झाड़ ने पकड़ा हुआ है। तब कोई ज्ञानी आकर कहता है कि झाड़ तो तेरे से भिन्न वस्तु है, वह तो अपने स्वरूप में है परन्तु झाड़ को तूने पकड़ा हुआ है तू अज्ञानवश कहता है कि झाड़ ने मुझे पकड़ा है। अगर तू विचार करके देख तो झाड़ तुझसे भिन्न है, अज्ञान से झाड़ को तूने पकड़ा है इसलिए झाड़ को तू छोड़ दे, तू छूट जाएगा। इसी तरह अज्ञानी जीव सांसारिक पंचेन्द्रिय सम्बन्धी पर वस्तु और पर भाव पर राग मोह करके उसको अपना मान करके पकड़े हुए है इसलिए तू दु:खी हो रहा है। अगर तू मन में विचार

करके देखेगा तो तुझे किसी ने नहीं पकड़ा है, तूने ही पर वस्तु को पकड़ा है। इसलिए इस राग द्वेष को उत्पन्न करने वाली पर वस्तु को हटा कर अपने अन्दर रत हो जा और जैसे जिनेन्द्र भगवान ने निज पदार्थ, निज तत्व का या स्वरूप का जैसे वर्णन किया है उसका मनन कर। इससे तेरा सुख तेरे अन्दर मिल जायेगा और हमेशा के लिए शुद्ध परमात्म पद प्राप्त करके तुझे अखण्ड अविनाशी मोक्ष मिलेगा।

परिणाम ही सुख दु:ख का कारण है–

परिणाममोदे दु:खम् बरविंगं सौख्यदेळ्गेगं कारणम्।
परिणामदिंदे दु:खम् परिहरिसुव सौख्यमप्प पागिं नेगळ्॥92॥

अर्थ–मन की भावना को परिणाम कहते हैं। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:' इस कहावत के अनुसार ऐसे परिणाम ही दु:ख और सुख को लाने में कारणभूत हैं। इस परिणाम से ही दु:ख उत्पन्न होता है। इसलिए हे जीव! इस जीव के दु:ख के कारण तेरे दुष्कृत्य हैं, दुष्परिणाम हैं, अशुभ योग हैं। यदि अशुभ को नाश करने वाले और शुभ उत्पन्न करने वाले मार्ग के अनुसार तू आचरण करेगा तो दु:ख नष्ट करके सुख को प्राप्त होगा॥92॥

विवेचन–ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि सुख और दु:ख का कारण अपने परिणाम ही हैं। जैसा भाव होता है उसी प्रकार फल मिलता है। अशुभ भाव होगा तो अशुभ फल मिलता हैं शुभ भाव होगा तो शुभ फल मिलेगा। इसलिए आचार्य बतला रहे हैं कि शुद्ध भाव के बिना संसार में मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि–

भुजंतु वि णिय-कम्म-फलु जो तहिं राउ ण जाइ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ॥

जिन शुद्धात्मा के ज्ञान के अभाव से उपार्जन किये जो शुभ अशुभ

कार्य उनके फल को भोगता हुआ भी वीतराग चिदानन्द परमस्वभावरूप शुद्धात्म तत्व की भावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रूप अमृत से तृप्त हुआ जो रागी द्वेषी नहीं होता वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बाँधता है, और नये कर्मों के बंध का अभाव होने से प्राचीन कर्मों की निर्जरा होती है। यह संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का मूल है। ऐसा कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट ने प्रश्न किया, कि हे प्रभो! कर्म के फल को भोगता हुआ भी ज्ञान से नहीं बंधता, ऐसा सांख्य आदिक भी कहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो? उसका समाधान श्री गुरु करते हैं—हम तो आत्म ज्ञान संयुक्त ज्ञानी जीवों की अपेक्षा से कहते हैं। वे ज्ञान के प्रभाव से कर्म-फल भोगते हुए भी रागद्वेष भाव नहीं करते। इसलिए उनके नये बन्ध का अभाव है, और जो मिथ्यादृष्टि अज्ञान भाव से बाह्य पूर्वोपार्जित कर्म-फल को भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं, उनके अवश्य बन्ध होता है। इस तरह सांख्य नहीं कहता, वह वीतराग चारित्र से रहित कथन करता है। इसलिए उन सांख्यादिकों को दूषण दिया जाता है। इसलिए वीतराग चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये हमेशा मोक्षाभिलाषी जीव के शुद्धात्मा की भावना से कर्मरूपी मल दूर हो जाता है ऐसा समझकर हे योगी! आत्मारूप पृथिवी के ऊपर कर्मरूपी बीज से आविर्भूत हुआ यह चित्तरूपी वृक्ष जिस संसार फल को उत्पन्न करता है उसे मोक्षाभिलाषी जीव को भेद ज्ञानरूप तीक्ष्ण तीव्र अग्नि के द्वारा जला देना चाहिये। यद्यपि कर्मरूपी कीचड़ मेरे निर्मल आत्मारूप जल को मलिन करता है तो भी निश्चित भेद को प्रगट करने वाले ज्ञानरूप निर्मली के होने पर मुझे उससे क्या भय है? अर्थात् कुछ भय नहीं है। जिस प्रकार कीचड़ से मलिन किया गया पानी निर्मली के डाल देने पर स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न दुष्ट क्रोधादि विकारों के द्वारा मलिनता को प्राप्त हुई आत्मा स्व-पर-भेदज्ञान के द्वारा निश्चय से निर्मल हो जाती है। इसलिये विवेकी जीव को कर्मकृत मलिनता का कुछ भी भय नहीं रहता है।

तत्व श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति की योग्यता से युक्त जीवों को ही भव्य जीव कहते हैं। और वही मोक्ष के योग्य हैं। ऐसा कहते हैं।

भव्यळिगेहितं स्व द्रव्याराधनेये मोक्षयदरिंपक्कुं॥
निर्व्याज्यं योगि पर द्रव्याराधने शुभाशुमंगळ्नीगुं॥93॥

अर्थ—तत्व श्रद्धानरूप ऐसे सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति की योग्यता से युक्त जीवों को ही भव्य जीव कहते हैं और जिसके अन्दर यह योग्यता नहीं है ऐसे जीवों को अभव्य कहते हैं। भव्यजीव के अन्दर ही मुक्ति की योग्यता है, अभव्यों में मुक्ति की योग्यता नहीं है। द्रव्य, पदार्थ और वस्तु ये तीनों नाम एकार्थवाची तथा बोध कराने वाले पर्याय शब्द हैं। भव्यजीवों के समुदाय को उस आत्म वस्तु की आराधना ही हितकारक होती है। उस आराधना से निर्बन्ध होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। परवस्तु शुभ और अशुभ ऐसी दो प्रकार की है। हे योगी! शुभ पर वस्तु की आराधना शुभ पुण्य फल को उत्पन्न करती हे। अशुभ वस्तु की आराधना अशुभ पापरूपी फल को उत्पन्न करने वाली होती है॥93॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि हे जीव! तुझे अत्यन्त कठिनता से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। भगवान जिनेन्द्र का कहा हुआ मार्ग ही तेरे लिए कल्याणकारी है। इसलिए उन्होंने जो व्यवहार निश्चय सम्यग्दर्शन का मार्ग बतलाया है वही मार्ग उपादेय है। ऐसा समझ कर तत्व पर श्रद्धान रख यही आत्म कल्याण का मार्ग है। शुद्धात्मा की भावना के शत्रु जो मिथ्यात्व रागादि हैं उनमें कभी गुमान न कर। केवल आत्मा स्वरूप में लगा रहा जो कोई अज्ञानी विषय कषाय के आधीन होकर शिव संगम में लीन नहीं होते हैं, उनको व्याकुलता रूपी दु:ख सहन करना पड़ता है। ये संसारी जीव सभी व्याकुल हैं कोई सुखी नहीं है। जो अपने स्वरूप में निश्चय से ठहरने वाला केवल ज्ञानादि अनन्त गुण सहित परमात्मा है वही शिव है। ऐसा जानना। अन्य कोई शिव नाम का पदार्थ नहीं। तू अपने स्वरूप अथवा केवल ज्ञानियों को शिव समझ। ये ही वीतराग देव की आज्ञा है।

श्री भगवान् जिनेन्द्र देव ने कहा है कि—

कालु अणाइ अणाइ जिउ भव सायरु वि अणंतु।
जीविं बिण्णि ण पत्तई जिणु सामिउ सम्मतु।।

काल, जीव, और संसार ये तीनों अनादि हैं, उसमें अनादि काल से भटकते हुए इस जीव ने मिथ्यात्व रागादिक के वश होकर अपना शुद्धात्म स्वरूप न देखा, न जाना। यह संसारी जीव अनादि काल से आत्म-ज्ञान की भावना से रहित है। इस जीव ने स्वर्ग नरक राज्यादि सब पाये, परन्तु ये दो वस्तुयें न मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन न पाया, दूसरे श्री जिनराजस्वामी न पाये। यह जीव अनादि का मिथ्यादृष्टि है, और क्षुद्र देवों का उपासक रहा है। श्रीजिन राज भगवान की भक्ति इसे कभी नहीं मिली, अन्य देवों का उपासक रहकर सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। यहाँ कोई प्रश्न करे, कि अनादि का मिथ्यादृष्टि होने से सम्यक्त्व नहीं उत्पन्न हुआ, यह तो ठीक हैं, परन्तु जिनराजस्वामी न पाये, ऐसा नहीं हो सकता? क्योंकि "भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ" ऐसा शास्त्र का वचन है, अर्थात् भव भव में इस जीव ने जिनवर पूजे और गुरु वंदे। परन्तु तुम कहते हो, कि इस जीव ने भव वन में भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये, उसका समाधान-भावभक्ति इसके कभी न हुई, भावभक्ति तो सम्यग्दृष्टि के ही होती है, और बाह्य लौकिक-भक्ति इसके संसार के प्रयोजन के लिये हुई वह गिनती में नहीं ऊपर ही सब बातें निःसार (थोथी) हैं, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव भक्ति मिथ्यादृष्टि के नहीं होती। ज्ञान जीव ही जिनराज के दास हैं, सो सम्यक्त्व बिना भाव भक्ति के अभाव से जिनस्वामी नहीं पाये, इसमें सन्देह नहीं है। जो जिनवरस्वामी को पाता तो उस ही के समान होता। ऊपरी लोक दिखावारूप भक्ति हुई, तो किस काम की। अब श्रीजिनदेव का और सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनो। अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधादि अठारह दोष रहित जिनस्वामी हैं। वे ही परम आराधने योग्य हैं तथा शुद्धात्म ज्ञान रूप निश्चय सम्यक्त्व (वीतराग सम्यक्त्व) अथवा वीतराग सर्वज्ञ देव के उपदेशे हुए षट् द्रव्य, सात तत्व, नौ पदार्थ, और पांच अस्तिकाय उनका श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्वा यह निश्चय व्यवहार दो प्रकार का सम्यक्त्व है। निश्चय का नाम वीतराग है, व्यवहार का नाम सराग है। एक तो चौथे पद का यह अर्थ है, और दूसरे ऐसा 'सिवसंगमु सम्मत्तु" इसका अर्थ ऐसा है, कि शिव जो जिनेन्द्र देव हैं उनका संगम अर्थात् भाव सेवन इस जीव को नहीं हुआ, और सम्यक्त्व

नहीं उत्पन्न हुआ। सम्यक्त्व हो तो परमात्मा का भी परिचय हो।

यहाँ घर शब्द का मुख्य रूप स्त्री जानना, स्त्री ही घर का मूल है, स्त्री बिना गृहवास नहीं कहलाता। ऐसा ही दूसरे शास्त्रों में भी कहा है, कि घर को घर मत जानो, स्त्री ही घर है, जिन पुरुषों ने स्त्री का त्याग किया, उन्होंने घर का त्याग किया। यह घर मोह का बन्धन कर अति दृढ़ बंधा हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। यहाँ तात्पर्य ऐसा है, कि शुद्धात्मज्ञान, दर्शन शुद्ध भाव रूप जो परमात्म पदार्थ है उसकी भावना से विमुख जो विषय कषाय हैं, उनसे यह मन व्याकुल होता है। इसलिए मन की शुद्धि के बिना गृहस्थ के यति की तरह शुद्धात्मा का ध्यान नहीं होता। इस कारण घर का त्याग करना योग्य है, घर के बिना त्यागे मन शुद्ध नहीं होता। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है, कि कषायों से और इन दुष्ट इन्द्रियों से मन व्याकुल होता है, इसलिए गृहस्थ लोग आत्म-भावना नहीं कर सकते।

अमूर्त वीतराग भावरूप जो निज शुद्धात्मा है उससे व्यवहारनय की अपेक्षा से दूध पानी की तरह यह देह एकमेक हो रही है, ऐसी देह जीव का स्वरूप नहीं हे, तो पुत्र कलत्र धन धान्यादि अपने किस तरह हो सकेंगे? ऐसा जानकर बाह्य पदार्थों में ममता छोड़कर शुद्धात्मा की अनुभूति रूप जो वीतराग निर्विकल्प समाधि है उसमें ठहर कर सब प्रकार से शुद्धोपयोग की भावना करनी चाहिए।

शुद्ध योग, अशुभ योग, शुद्ध योग ये तीन योग हैं। इसमें से शुद्ध योग ही ग्रहण करने योग्य है, ऐसा बतलाते हुए कहते हैं—

उपयोगत्रय मदरोल् विपरीतं मोदलेरडे नाल्कं गतियोळ्।
उपयोग्यं मोक्षार्थिगे तपर्मु शुद्धोपयोग मंतदे सारं ॥94॥

अर्थ—अशुभयोग, शुभयोग और शुद्धोपयोग ऐसे तीन प्रकार के उपयोग हैं। उनमें से पहले के दो उपयोग नरक गति तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देव गति में ले जाते हैं, ये मोक्षार्थी भव्य जीवों के लिए विपरीत हैं। तप और शुद्धोपयोग से उपयुक्त हैं। उसमें भी शुद्धोपयोग ही सारभूत है। अशुभ-शुभ

उपयोगों से उत्पन्न होने वाले पाप और पुण्य इस आत्मा को लोहे और सोने की बेड़ी के समान बन्धन कारक हैं वे दोनों उपयोग मोक्ष के बाधक होते हैं और शुद्धोपयोग ही उन दोनों-पाप और पुण्य बन्ध के नाश का कारण होता है ॥94॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि उपयोग तीन प्रकार के हैं। अशुभ उपयोग, शुभउपयोग, शुद्धउपयोग। इसमें से पहला अशुभ उपयोग, केवल पाप का बन्ध करने वाला है। दूसरा शुभ उपयोग है, वह शुभ फल का देने वाला है। ये दोनों छोड़ने योग्य हैं और एक शुद्ध उपयोग ग्रहण करने योग्य है। अगर योगी शुभ और अशुभ दोनों की आत्मा से भिन्न मानकर केवल अपने शुद्धोपयोग आश्रय लेकर उसी में रत हो जाय तो शुद्धात्मा अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इसलिए इस जीव को शुद्धात्मा की भावना करना ही श्रेष्ठ है।

प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

हे योगी! वह आत्मा अमूर्त स्वभाव होने से रस, रूप, गंध, स्पर्श शब्द संस्थानादिक पौद्गलिक भावों से रहित है,। धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार अमूर्त द्रव्यों से भी भिन्न है, स्वजीव सत्ता की अपेक्षा अन्य जीव द्रव्य से भी भिन्न है, अपने अस्तित्व कर सद्रूप वस्तु मात्र हैं, और यहाँ पर अलिंग ग्रहण विशेषण इसलिए कहा है, कि वह आत्मा किसी पुद्गलीक चिन्ह से ग्रहण नहीं किया जाता। इस विशेषण पद के अनेक अधर्म है, उनमें से कुछ थोड़े दिखलाते हैं—लिंग नाम इंद्रियों का है, उन इंद्रियों का है, उन इंद्रियों से यह आत्मा पदार्थो का ग्रहण (ज्ञान) करने वाला नहीं है, अतीन्द्रिय स्वभाव से पदार्थो को जानता है, इसलिए अलिंग ग्रहण है। अथवा इंद्रियों से अन्य जीव भी इस आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकते यह तो अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञानगम्य (अपने अनुभव गोचर) हैं, इसलिए भी अलिंग ग्रहण है। जैसे धुएं

के चिन्ह को देखकर अग्नि का ज्ञान करते है, वैसे अनुमान ज्ञान कर लिंग अर्थात् चिन्ह कर यह आत्मा अन्य पदार्थों का जानने वाला नहीं है, यह तो अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान से जानता है, इस कारण भी अलिंग ग्रहण है। कोई जीव इंद्रिय गम्य चिन्ह से इस आत्मा का अनुमान नहीं कर सकता, अर्थात् इंद्रिय ज्ञान जनित अनुमान से ग्रहण नहीं किया जा सकता, इस कारण भी अलिंग ग्रहण है इत्यादि अलिंग ग्रहण शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यह शुद्ध आत्मा केवल अनुभव गम्य है, वचन से नहीं कहा जा सकता, कहने से अशुद्धता का प्रसंग आता है इसलिए शुद्ध जीव द्रव्य ज्ञानगम्य है। जो अनुभवी हैं, वे ही शांतरस के स्वाद को जानते हैं। इसका अन्य कथन है, वह व्यवहार मात्र है। जिनके काल लब्धि निकट आ गई है, वे ही व्यवहार मात्र शब्द ब्रह्म का निमित्त पाकर स्वरूप में लीन होते हैं। इस कारण अवाच्य शुद्ध जीव द्रव्य अनुभव योग्य ही हैं।

इस जीव को शुद्धोपयोग भावना ही इष्ट है–

शुद्धं तां फलभागिप शुद्धं बंधकमे मोक्षमिल्लवरिंदं।
शुद्धाशुद्ध विवर्जित शुद्धं मोक्षक्के कारणं सामान्यं ॥95॥

अर्थ–आप शुद्ध होकर रहना–शुभ योग रूप होकर रहना। ये दो सुख फल को देने वाले हैं। जो अशुद्ध है वह अशुभ उपयोग है, पाप बंध का कारण है। अशुभ भाव से मोक्ष को प्राप्ति नहीं होती है, केवल शुद्धोपयोग ही मोक्ष के कारण है॥95॥

विवेचन–यह जीव शुभ और अशुभ कर्म के योग से चारों गतियों में भ्रमण कराने वाले परिणाम को प्राप्त होकर साता असाता कर्म को सहते हुए संसार में भ्रमण कर रहा है। जब अशुभ कर्म का उदय आ जाता है, तब वह अशुभ योग के द्वारा किये हुए कर्म फल को भोगता है। जब शुभ कर्म शुभ योग द्वारा किया जाता है, तो उस शुभ योग के फल स्वरूप देव पद चक्रवर्ती पद आदि पुण्य फल को भोगने वाला होता है। इस तरह यह जीव अनादि काल से पुण्य और पाप के निमित्त से संसार में भ्रमण कर रहा है इस

कारण उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। आचार्य कहते हैं कि हे योगी! अगर तू अपने अमूर्तिक अखण्ड अविनाशी शुद्धोपयोग स्वरूप में रमण करेगा इसका स्वाद लेगा तो शुभ और अशुभ दोनों मिलकर भी तेरे मार्ग में बाधा नहीं डाल सकेंगे, बल्कि वे सहायक ही होंगे इसलिए तू सम्पूर्ण पर द्रव्य को भिन्न समझ कर शुद्धोपयोगी होजा।

प्रवचनसार में कहा है कि—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो॥

जब जीव के नवीन कर्म बन्ध होता है, तब वह तीन जाति का होता है—जो जीव के प्रदेशों में पूर्वबद्ध वर्गणा हैं, उनसे तो नूतन कर्मवर्गणा स्निग्ध रूक्ष भाव बँधती हैं, और जो जीव के रागादि अशुद्धोपयोग होता है, उससे जीवबन्ध होता है, तथा जीव और पुद्गल के परिमणमन से निमित नैमित्तिक भाव कर जो दोनों का एकक्षेत्रावगाह है, वह आपस में जीव पुद्गल का बन्ध ा होता है। इस प्रकार तीन जाति का बन्ध जानना चाहिए।

जो जीव राग भाव कर परिणमता है, वही नवीन द्रव्य कर्म कर बंधता है, और जो जीव वैराग्य स्वरूप परिणमन करता है, वह कर्मों से नहीं बंधता। रागपरिणत जीव नूतन कर्म से छूटता ही नहीं, और वैराग्य परिणति वाला नवीन कर्मो से छूट जाता है, तथा पुराने कर्मों से छूटता है। राग परिणति वाला जीव नवीन कर्मों से भी बंधता है, और पुराने कर्मों से भी पहले का बंधा हुआ है। वैराग्य परिणत जीव बंध अवस्था के होने पर अबंध हो गया है। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि द्रव्यबंध का कारण रागादि अशुद्धोपयोग है, वही निश्चय बंध है, द्रव्य उपचारमात्र है। इसका भावार्थ यह है कि जो परिणाम राग, द्वेष, मोह की विशेषता लिए हुए हों, वही परिणाम बंध के कारण हैं। मोह सामान्य राग, द्वेष, मोह के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से द्वेष, मोह तो अशुभ भाव ही हैं, और राग शुभ अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। धर्मानुराग शुभ है, और विषयराग अशुभ भाव है। इस प्रकार ये शुभाशुभ दो तरह के परिणाम बंध के

ही कारण हैं। यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। कहीं एक रूपवती सुन्दर स्त्री का शव पड़ा हुआ था वहाँ एक साधु आया। वह उस शव को देख कर मन में सोचने लगा—अहा! पुण्य से क्या रूप पाया था। किन्तु इस रूप का मूल्य क्या है, जबकि इसने मनुष्य पर्याय पाकर भी आत्म कल्याण नहीं किया। इस रूप पर यह स्त्री गर्व करती रही होगी किन्तु यह शरीर, यह रूप कितना क्षणिक और कितना विनश्वर है, यह इस स्त्री को देखकर पता लगता है। तभी एक कामी पुरुष वहाँ घूमता फिरता आया। उसने शव को देखा और विचारने लगा—वाह, रूप तो यह है। यदि मुझे यह जीवित दशा में मिल जाती तो जिन्दगी में बहार आ जाती।

इतने में एक कुत्ता आ गया। वह लाश को देखकर सोचने लगा—ये लोग हट जायें तो मैं इसका माँस खाऊँ। लाश एक है, किन्तु सबके भाव भिन्न-भिन्न है। साधु के शुभ भाव हैं। उसे शुभ बन्ध होगा। कामी और कुत्ते अशुभ भाव हैं। उन्हें अशुभ बन्ध होगा।

आत्मा का स्वभाव अद्वैत ही है इसलिए द्वैत को छोड़ना चाहिए।

द्वैतभावमदु नास्कु भेदम् द्वैतभावनेयदोदे योगिनां।
द्वैत भावमं विसुटु पारिणामिका द्वैतदिं पडेवे स्वस्वरूपमं॥96॥

अर्थ—हे योगी! वह द्वैत भाव चार प्रकार के हैं, तू द्वैतभाव को दूर

करके पारिणामिक भाव रूप जो अद्वैत भाव है उससे स्व स्वरूप को प्राप्त होगा। यह जीव द्वैतभाव की दृष्टि से नारकी जीव, तिर्यंच जीव, मनुष्य जीव और देवगति के जीव ऐसे चार गति के जीव होते हैं। अद्वैत दृष्टि से द्वैतभाव को छोड़कर स्व स्वरूप पारिणामिक भाव से यह जीव अकेला ही है ऐसा समझ कर भावना करने से पापकर्म दूर होकर निज स्वरूप को तू प्राप्त होगा। ऐसा ही सद्गुरु भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है॥96॥

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने बतलाया है कि हे योगी! तेरा स्वरूप अद्वैत स्वरूप है परन्तु अनादि काल से पर परिणति के निमित्त से द्वैत को प्राप्त होकर दुनिया के नानारूप धारण किये। इस आत्मा के साथ दूसरा रहने पर ही असली अद्वैत स्वंभाव का अनुभव हो सकता है।

परमात्म प्रकाश में कहा भी है;

परू जाणंतु वि परम मुणि पर-संसग्गु चयंति।
पर-संगई परमप्पयहं लक्खहं जेण चलंति॥108॥

शुद्धोपयोगी मुनि वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में लीन हुए परद्रव्यों के साथ संबंध छोड़ देते हैं। अन्दर के विकार रागादि भावकर्म और बाहर के शरीरादि ये सब पर द्रव्य कहे जाते हैं,। वे मुनिराज एक आत्मभाव के सिवाय सब पर द्रव्य का संसर्ग छोड़ देते है तथा रागी द्वेषी मिथ्यात्वी, असंयमी, जीवों का संबंध छोड़ देते हैं। इनके संसर्ग से जो परमपद, वीतरागानित्यानंद अमूर्त स्वभाव, परम समरसी भाव रूप परमात्मतत्व ध्यान करने योग्य हैं, उससे चलायामान हो जाते हैं, अर्थात् तीन गुप्ति रूप परम समाधि से रहित हो जाते हैं। यहाँ पर परध्यान के घातक जो मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध परिणाम है तथा रागी द्वेषी पुरुषों का संसर्ग सर्वथा त्याग देना चाहिये।

आगे यह कहते हैं—अपनी आत्म भावना की आराधना रातदिन करना उसका चिन्तवन करना ही ठीक है।

सहजाराधने दोरेकोळ् लहनिशं योगि भेदविज्ञानिये नीं।
बहिरंगद विकलेतेयिं बहिरात्मनु मप्पयेद मळजनकत्वं॥97॥

अर्थ—हे योगी! आत्म भावना की आराधना प्राप्त होने से रात दिन स्तत देह और आत्मा के भेद विज्ञान की प्राप्ति होगी। बाह्य परवस्तु के विचार से, चित्त की चंचलता से, तेरा आत्मा बहिरात्मा हो जाता है। आत्मा कर्म फल को उत्पन्न करने का कारण बन जाता है। अपने आपको वहीं भेदविज्ञान की प्राप्ति से निरन्तर उसी सुख में तन्मय होकर रहने वाला होगा ऐसा इसका भावार्थ है॥97॥

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बतलाया है कि बाह्य पर वस्तु के विचार मात्र से मन चंचल होता है। उसी चंचलता के निमित्त से यह आत्मा बहिरात्मा होती है और वही अपने आत्मा को मलिन करने के लिये निमित्त कारण हो जाती है। जब भेद विज्ञान होता है, तब उस भेद विज्ञान के द्वारा विषय वासना दूर होती है। इसलिये योगी के लिये अपनी आत्मा में निरंतर रत होने को कहा है। जब तक संपूर्ण बाह्य इन्द्रियों को पर पदार्थ से भेद विज्ञान के द्वारा हटाकर अपनी आत्मा के अन्दर मनन नहीं करेंगे या रत नहीं होगें, तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मोक्ष का अर्थ आत्मा से बाह्य पर द्रव्य को हटाना है।

हे योगी! पर द्रव्य का सम्बन्ध महा दु:ख रूप है इसलिये राग भाव जब तक रहेगा तब तक तुझे स्व पर ज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। विवेकी जीवों के शीलादि गुण मिथ्यादृष्टि रागी द्वेषी अविवेकी जीवों की संगति से नाश हो जाते हैं। अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध भावों के संबंध से मलिन हो जाते हैं। जैसे अग्नि लोहे के संग से पीटी-कूटी जाती है। यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है, उसी तरह दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह कथन जानकर आकुलता रहित सुख के घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगों की वाँछारूप निदानबंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टों की संगति नहीं करना, अथवा अनेक दोषों सहित रागी द्वेषी जीवों की भी संगति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है।

हे योगी! जो पंचेन्द्रियों के विषय में आसक्त है उनका अकाज होता है। इसलिये पंचेन्द्रिय विषयों को तू छोड़कर अपने आत्म ध्यान में लीन होजा। यही तुझे परम हितकारी है। विषयों के कारण ही अज्ञानी आत्मा संसार में अनेक प्रकार के दु:ख उठाती है। अब तो चैत।

यह मूढ़ अज्ञानी जीव इन पंचेन्द्रिय विषयों से सुख चाहता है। पंचेन्द्रिय विषयों से सुख की इच्छा करना ऐसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति अमावस्या की घोर काली रात में चन्द्रमा को तलाश कर रहा हो। और सोचता हो—शायद चन्द्रमा कहीं उदय हो जावे। जैसे अमावस्या को चन्द्रमा नहीं निकलता, वैसे ही पंचेन्द्रिय विषयों से सुख चाहना भी व्यर्थ है।

पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा आदि जो सब खोटे ध्यान हैं वे ही हुए विकल्प, उनसे रहित विषय कषाय रहित जो निर्दोष परमात्मा है उसका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप जो निर्विकल्प समाधि है उससे उत्पन्न वीतराग परम आह्लादरूप सुख-अमृत है, उसके रस के स्वाद से पूर्ण कलश की तरह भरा हुआ जो केवल ज्ञानादि व्यक्ति रूप कार्य समयसार है, उसका उत्पन्न करने वाला जो शुद्धोपयोग कारण समयसार है, उसकी भावना से रहित संसारी जीव विषयों के अनुरागी पांच इंद्रियों के लोलुपी भव भव में नाश होते हैं। पतंगादिक एक विषय में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, लेकिन जो पाँच इन्द्रियों के विषयों में मोहित हैं, वे वीतराग चिदानंदस्वभाव परमात्मतत्व उसको न सेवते हुए,

न जानते हुए, और न भावते हुए,
अज्ञानी जीव मिथ्या मार्ग को बाँछते, कुमार्ग की रुचि रखते हुए नरकादि गति में घानी में पिलते करोंत से विदरते और शूली पर चढ़ते दुःखों को देहादिक की प्रीति से भोगते हैं ये अज्ञानी जीव वीतराग-निर्विकल्प परम समाधि से पराङ्मुख हैं, जिनके चित चंचल हैं, कभी निश्चल चित्तकर निजरूपी नहीं ध यावते हैं और जो पुरुष राग से रहित हैं, वे वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हैं, वे ही लीलामात्र में संसार को तैर जाते हैं।

चिंतित वस्तु को देने वाली अपनी आत्मा के अन्दर ही अपनी आत्मा है उसी का ध्यान करना योग्य है। ऐसा कहते हैं।

चिंतामणि पेरंतुटें चिंतिसदने कोडुव पेयसुंटघुदरिं।
चिंतिसु निजात्मनं चिच्चिंतामणी ताने कुडुगुमक्षयसुखमं॥98॥

अर्थ—अपनी आत्मा के अन्दर जिस वस्तु को चिंतवन करते हैं उस वस्तु को ही देने में समर्थ चिंतामणि के समान आत्मा ही चिंतामणि है। ऐसे अपने अंदर ही रहने वाले आत्म स्वरूप को छोड़कर क्या और कोई अन्य चिंतामणि है? नहीं। इसलिये हे योगी! ऐसी निज शुद्धात्मा का ध्यान करो। वही चिंतामणि तुझे नाश रहित अत्यंत शाश्वत मोक्ष पद को देने वाला है अर्थात् शाश्वत सुख को देने वाला है॥98॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक के अन्दर यह विवेचन किया है कि अपनी आत्मा के अन्दर जिस वस्तु का चिन्तवन करते हैं, उस वस्तु को भी देने में समर्थ ऐसा जो चिंतामणी रत्न उसके समान परम पवित्र आत्मा है वही वास्तविक चिंतामणि है। ऐसे आत्म रत्न को चिंतामणि रूप समझकर उसी का ध्यान करने से इच्छित पदार्थ मोक्ष की प्राप्ति होगी। हे योगी! आत्म स्वरूप को मत छोड़ो। इस आत्म स्वरूप को छोड़कर अन्य कोई इच्छित मोक्ष को देने वाला नहीं है। इसलिये तू अपने आत्म स्वरूप का ही ध्यान कर। चिंतामणि पत्थर है वह जड़ वस्तु है। वह चिंतित वस्तु को कैसे दे सकता है। अज्ञानी लोग उस चिंतामणि बाह्य पत्थर को ही कामना पूरी करने वाला

समझते हैं किन्तु असली चिंतामणि तो अनादिकाल से अपने अन्दर ही छिपा हुआ है। इस रत्न को प्राप्त करने के लिये ऊपर के आठ कर्म ज्ञानवरणी दर्शनावरणी आदि का जो आवरण पड़ा हुआ है, उस आवरण को जब तक दूर नहीं करेगा या पुरुषार्थ नहीं करेगा, तब तक वह रत्न प्रगट नहीं हो सकता है। जब वह परदा दूर हो जायगा, तब उस वस्तु को जिसको रात दिन प्राप्त करने की इच्छा करता है, वह चिंतामणि आत्मा का शुद्ध स्वरूप मिल जाएगा। अपनी आत्मा ही परमात्मा है, वही अपना स्वरूप है। ऐसा समझकर तू परमात्मा का ध्यान कर, यही तेरे लिये योग्य है। अन्य वस्तु के ध्यान करने से क्या फायदा?

प्रश्न—आत्मा का परिचय कैसे हो?

आत्म-परिचय किस प्रकार कर सकते है इसके बारे में कहते हैं कि—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावत्राप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥

उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों धर्मो का सतत रहना यह तो हुआ वस्तुओं का सामान्य लक्षण। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव तो वही है जो बाकी सर्व वस्तुओं का है। परन्तु जीवों का जो निजी तत्व है, वह उसी के कल्याण के लिए है। शास्त्रों का उपदेश, व्रत, तप, दान, धर्म, ये सर्व कर्म केवल जीव के ही कल्याणार्थ कहे व किये जाते हैं। इसलिए जीव की निराली पहिचान करना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण के मार्ग उसके जानने पर ही जाने जा सकते हैं। तब?

जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवों को जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ होते दीखते हैं वे सब रागद्वेष के वश होने से व अज्ञान रहने से होते है इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पर राग द्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहाँ-वहाँ पर सुख शांति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु में उद्वेग व

अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिए। क्षोभ व अशांति अथवा उथल पुथल होना विजातीय संयोग का कार्य है। इसीलिए मोक्ष रहित शांत होकर ठहरना आत्मा का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा में क्षोभ अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसे-जैसे मंद होकर तत्वज्ञान की वृद्धि होती है वैसे ही वैसे जीवों को शांति प्राप्त होती हुई जान पड़ती है। इसलिए रागद्वेष का पूर्ण अभाव होकर ज्ञान की पूर्णता होने को निज स्वभाव व पूर्ण सुख शांति प्राप्त होने का कारण मान लेना अनुभव के विरुद्ध न होगा।

वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था का प्राप्त होना है। वह अवस्था कभी फिर नहीं छूटती है। इसलिए जो अपने अविनाशी पद की आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिए कि, ज्ञान की आराधना करें क्योंकि ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु की चिरकाल तक भावना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

कोई यहाँ प्रश्न करता है कि आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो गई, यह पता कैसे चलता है और उसे बताता कौन है।

गुरु महाराज उससे हंसकर कहते हैं कि अरे पगले! जब आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगी तो तुझे बतलाने कौन जायगा, तुझे स्वयं ही ज्ञात हो जायगा।

एक पुत्री अपनी माँ से कहने लगी–माँ! तेरा पेट मोटा क्यों हो रहा है। माँ बोली–बेटी! समय आने दे। जब तेरी यह अवस्था होगी, तब तुझे स्वयं अनुभव हो जायेगा।

निर्मोही साधुओं की शुद्ध ज्ञान भावना का वर्णन करते हुए कहा है कि–

मुहुः प्रसार्य सज्जानं पश्येत् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः॥

अपने श्रेष्ठ ज्ञान को बार-बार पसार कर यथास्थित सर्व तत्वों को देख और रागद्वेष को छोड़कर उन तत्वों का बार-बार जैसा का तैसा चिंतवन करे। ऐसा चिंतवन आत्मवेदी वीतराग के हाथ से ही हो सकता है।

जो कि मोही हैं वे जिस पदार्थ को देखने लगते हैं उसी में उनकी प्रीति, होती है अथवा नहीं तो अप्रीति अवश्य व तत्क्षण उत्पन्न होती है। वह उत्पन्न हुए बिना रहती नहीं और उसके उत्पन्न होने पर जीव को कर्म बन्धन तैयार है।

योगी के लिए बतलाते हैं कि अनेक प्रकार के निःसार भाषण को छोड़कर सम्यग्ज्ञान के बीज रूप आत्मा का ही ध्यान करना श्रेयस्कर है ऐसा बतलाते हैं–

वृहदलंध्यसुबोधद, बीजमं सहज भावविशिष्टसुतत्वमं।
बहुविकल्पद जल्पदगळ्केयिं दिहदोळीक्षिसु योगी निजात्मनं॥99॥

अर्थ–हे योगी! तू नाना प्रकार के निःसार भाषण को छोड़कर अत्यन्त महत्वपूर्ण और कभी किसी के द्वारा उल्लंघन न होने वाले सम्यग्दर्शन ज्ञान सुख आदि भावों से युक्त और उत्तम तत्व रूप रहने वाली अपने आत्मा को अपने अन्दर देख और उसी का ध्यान कर और तू एक निमिषमात्र भी उससे अलग न हट। एकाग्रता पूर्वक ध्यान करने से सम्पूर्ण आत्मा के साथ लगा हुआ वह जड़ कर्म भिन्न होकर तुझे अत्यन्त शुद्ध चित् स्वरूप सच्चिदानन्द

स्वरूप की प्राप्ति होगी और उसी के अनन्त सुख तथा शान्ति देने वाले निर्वाण सुख की प्राप्ति होगी।

हे योगी! जैसे स्फटिक मूर्ति कीचड़ से लिप्त होने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती है उसी तरह चित् स्वरूप तेरी आत्मा अनादि काल से कर्म रूपी मल से लिप्त होने पर भी अपने ज्ञानादि चित् आकृति को भी नहीं छोड़ती है किन्तु कर्मों का आवरण पड़ गया है, जिसने तेरे स्वरूप की पहिचान करने नहीं दी। इसलिए तू अपने पुरुषार्थ के द्वारा इस कर्म रूपी पर्दे को दूर कर। यदि तू अपने अन्दर अपनी आराधना करेगा तो अपने अनुभव में आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगी जब आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है तब वह कर्मों को नष्ट कर देता है। कर्म नष्ट होने पर परमब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप ज्ञान दर्शन चारित्रमय शुद्धात्मा की उपलब्धि हो जाती है।

साधु के अकारण बन्धुता होती है–

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्।
विरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम्॥
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते।
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः॥

अनेक दुःखों के कारण तथा मलमूत्रादि की अपवित्रता से भरे हुए इस शरीर से जीव विरक्त नहीं होता यह बात तो अलग ही रही पर ऐसे के साथ अधिक प्रीति न करता हो, यह भी तो उससे नहीं बनता है। उल्टा उस शरीर के साथ अधिकाधिक प्रीति करता है। खैर, यह प्राणी तो भूल ही रहा है पर, इसे कोई यह सुझाता भी तो नहीं है कि तू ऐसा मत कर। इस प्राणी के जितने बंधुजन तथा मित्र हैं वे सब कर्कश तथा अप्रिय लगने के डर से ऐसा एक शब्द भी कभी नहीं बोलते कि जिससे इस प्राणी की शरीर संबधी प्रीति कम हो। परिपाक के समय चाहे वह कितना ही दुखी क्यों न हो पर, उसके मित्र बांधव सदा वही बात सुनाते और बताते हैं जिससे उसे तत्काल अनिष्ट न

भासता हो। इसलिए वे सच्चे मित्र बांधव नहीं है, क्योंकि वे अहित से उसे रोकते नहीं हैं। तो फिर सच्चा मित्र या बांधव कौन है? जो उस अहित प्रवृत्ति से उसे बचाता हो। ऐसा कौन है? ऐसे साधु सत्पुरुष होते हैं जो जीवों की शरीरादि के साथ उत्कट प्रीति देख कर यह विचार नहीं करते कि इन जीवों को हमारा उपदेश कठोर लगेगा। किन्तु वे फलसमय में हिता वह समझकर अपने सारे उपदेश को सुनाते ही है और परिपाक समय में दु:खदाई ऐसे शरीर प्रेम को छुड़ाने का यत्न करते ही रहते हैं। ऐसे महापुरुषों के निष्करण परहित की तरफ देखो। ये महापुरुष ही सच्चे मित्र या हितू हैं। क्या जीवों को हितोपदेश सुनाने के बदले उन जीवों से उन्हें कुछ मिलेगा? नहीं। उनका स्वभाव ही परम दयालु होता है जिससे वे सदा सबों का निष्कारण हित साधन करने में प्रवृत्ति रखते हैं।

विषयों को न भोगकर उन्हें छोड़ने वाले की भावना और उसका फल—

अकिंचनोऽ हमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिंगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥

पर पदार्थ कभी अपना नहीं बन सकता है। पर पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही चाहे की जाये और कितने ही उपाय किये जायें, पर वे अपने निज स्वरूप में आकर मिल नहीं सकते हैं। आत्मा आत्मा ही रहेगी और पर पर ही रहेंगे। यह वस्तु स्वभाव की स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने अपने निराले स्वभावों को रखने वाले माने गये है तो उनका एक दूसरे में मिल जाना या एक दूसरे की एक दूसरे से भलाई बुराई होना असम्भव बात है। जड़ चेतन का, मूर्तिमान-अमूर्तिक का मेल होना ही कठिन है तो एक दूसरे की वे भलाई बुराई क्या करेंगे? दूसरी बात यह है कि, आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है जो कि जड़ पदार्थों में असंभव है। शरीर से

चेतना निकल जाने पर यह शरीर तुच्छ और फीका लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड़ है, उसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है? शरीर में रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतन का ही चिन्ह है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि, आनन्द या सुख, ज्ञान के बिना नहीं होता। वह ज्ञान का ही कार्य है, ज्ञान का ही रूपान्तर है। तो फिर जड़ में वह कैसे मिल सकता है? इसीलिए सुख की लालसा से जड़ विषयों का सेवन करना, उनसे सुख चाहना पूरी भूल है। तब? केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिए उसी का ध्यान करो, चिंतन करो तो सम्भव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चय सुख प्राप्त हो जाय। जब कि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवों को कुछ सुख अनुभव होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बनने पर पूरा सुख क्यों न मिलेगा? जब कि चेतना ही आनन्ददायक है तो जड़ पदार्थो में फँसने से आनन्द कैसे मिल सकता है? क्योंकि, जड़ पदार्थो में फँसने से ज्ञान नष्ट या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे कि आनन्द की मात्रा घट जाना संभव है। जड़ पदार्थो में फँसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वांचित होता ही है और इधर जड़ पदार्थो से कुछ मिलने वाला नहीं है इसलिए दोनों तरफ के लाभ से जाता है। उसे न इधर का सुख न उधर का सुख। यदि वही जीव सब तजकर अकेले अपने आपको भजने लगे तो पूर्ण, तीनों जग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फिर उससे बचा ही क्या रहा? इसीलिए मानना चाहिए कि वह तीनों लोक का स्वामी बन चुका।

जब कि यह जीव सब झगड़े छोड़कर आत्मज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार में अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस लोक श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे बड़ा और तीन लोक का स्वामी कौन होगा? कोई नहीं। उस समय यही तीन लोक का स्वामी बन जायेगा। क्योंकि, जो जिसका स्वामी होता है वह उसके सार सुख को भोगता है। जीव जब कि तीनों लोक के एकमात्र सार सुख आत्मानन्द को भोगने लगा तो वह तीनों ही लोक का स्वामी हो चुका है।